ADHUNIK VIGYAN AUR AHIMSA

(Modern Science and Non-Violence)

by

Ganeshmuniji Shastri

Rs 3.50

प्रकाशक

रामलाल पुरी, सचालक
आत्माराम एण्ड सस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-6

शाखाएँ

हौज खास, नई दिल्ली
चौड़ा रास्ता, जयपुर
माई हीरां गेट, जालन्धर
बेगमपुल रोड, मेरठ
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़

मूल्य 3.50 रुपए

सस्करण प्रथम : 1962

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली

सम्मति

चार शब्द

आज का युग विकास के मोड़ पर है। उन्नति और विकास की ध्वनियाँ चारो ओर से सुनाई पड़ती है। पर मानव यह नहीं सोच पा रहा है कि उन्नति किसकी और उसके उपाय क्या है ? क्योंकि जब तक योजना-बद्ध सुनियन्त्रित विकास पथ का अनुसरण न किया जाएगा तब तक उन्नति के शिखर पर चरण स्थापित नही किये जा सकते। आज बौद्धिक दक्षता और शोधन विधि के विकास तक ही उन्नति सीमित है और प्राकृतिक प्रसुप्त शक्तियों के अन्तर्रहस्यो को जानकर मानव-समाज को सुख, शान्ति और समृद्धि की ओर गतिमान करना ही विकास या मानवोन्नति समझी जाती है। विज्ञान इसी की परिणति है। पर यही हमारा साध्य नही है। जीवन के नित नूतन के प्रति आस्थावान रहते हुए भी स्थायी जगत के प्रति उसका केन्द्र बिन्दु लक्षित होना चाहिए। भौतिक या अस्थायी जगत की क्रान्तिपूर्ण स्थिति आन्तरिक जगत को जहाँ तक आलोकित या प्रभावित करती है, वही तक इसकी उपयोगिता है। केवल दृश्य जगत की ओर अधिक नैष्ठिक जीवन और साम्पत्तिक विकास भविष्य के लिए क्या दृष्टि छोड जाता है, यह विचारणीय प्रश्न है। सुख-सुविधाओ की अभिवृद्धि और सामाजिक शान्ति विज्ञान द्वारा प्राथमिक रूप से अनुभव मे आने लगी, तब मानव आनन्द का अनुभव करता था। ज्यो-ज्यो वैज्ञानिक साधनो का प्राचुर्य अपनी चमत्कृति से विश्व को आश्चर्यान्वित करता रहा, त्यो-त्यो ससार उसके प्रति अधिक आकृष्ट हुआ जैसे अन्तिम लक्ष्य का यही एकमात्र स्वर्णिम या शाश्वत पथ हो। आगे चलकर विज्ञान की सर्वोच्च संहार शक्ति की भीषणता से मानवता कराह उठी और अनुभव किया जाने लगा कि सूचित उन्नति शक्ति पर अकुश की आवश्यकता है ताकि संहार शक्ति को सृजन की ओर मोडा जा सके। मानवता का इसी मे कल्याण है। विकास और उन्नति बड़े सुन्दर शब्द है पर कभी-कभी निरकुश गति से नाश का सामना भी करना पडता है। केवल भौतिक विकास भले ही

क्षणिक सुख-सृष्टि कर उन्नति की आभा दिखला दे पर न तो वह स्थायी है और न चिर शान्ति का प्रतीक ही। चिराचरित साधना द्वारा प्राप्त वस्तु देश की ऐसी सम्पत्ति होनी चाहिए, जिसका विनिमय वृद्धि की ओर संकेत करता हो।

शक्ति के स्रोत को तब ही समुचित स्थान प्राप्त हो सकता है जब उसके वहन की क्षमता उस पृष्ठभूमि मे विद्यमान हो। अत्यधिक शक्ति सचय उचित उपयोग के अभाव मे भटाव पैदा कर देता है। विकास अवकाश चाहता है। मनुष्य ऐसा मानता है कि आज वह उन्नति और विकास की सर्वोच्च सीमा पर पहुँच गया है। हाँ, इसमे कोई शक नही कि पूर्वापेक्षया आज वह प्रकृति का दासत्व उतना स्वीकार नही करता जितना विगत शताब्दियों का मानव करता आया है। अपूर्णता केवल इतनी ही है कि आज बहिर्दृष्टिमूलक जीवन पद्धति के परिणामस्वरूप वह आध्यात्मिक जागरण के उज्ज्वल पथ को विस्मृत किये हुए है। उसका मानस ज्ञान-विज्ञान के प्रति बड़ा उदार है। वह प्रत्येक वस्तु को तर्क की कसौटी पर कसने का अभ्यस्त हो चुका है। पर विनम्र शब्दो मे कहना चाहूँगा कि आचार विहीन ज्ञान सत्य के प्रति आगे बढने मे बाधा उपस्थित करता है। और न ससार की सभी वस्तुएँ तर्कगम्य हैं। सत्योपलब्धि के लिए गहन अनुभव, विचार, भाषा और सर्वोत्कृष्ट भाव-शुद्धि अपेक्षित है और वह संस्कृतिनिष्ठ आध्यात्मिक परम्परा के विकास द्वारा ही सम्भव है जिसका मूल आधार अहिंसा है।

अहिंसा भारतीय संस्कृति की आत्मा है। वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन का शाश्वत विकास अहिंसा की सफल साधना पर ही अवलम्बित है। जिस प्रकार अहिंसा तत्त्व द्वारा आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का पोषण होता है उसी प्रकार जीवन का भौतिक क्षेत्र भी सतुलित रह सकता है। कहने की शायद ही आवश्यकता रहती है कि अब वह केवल आन्तरिक जगत के उन्नयन तक भी सीमित नही है अपितु राजनीतिक क्षेत्र तक मे इसकी प्रतिष्ठा निर्विवाद प्रमाणित हो चुकी है। भयाक्रान्त मानव अहिंसा की ओर दृष्टि गडाये हुए है। विज्ञान के विकास का खूब अनुभव हो चुका है। अब वह पुन लौटकर देखना चाहता है कि हमे ऐसे तत्त्व की आवश्य-

कता है जो मानवता मे जीवनी शक्ति का निर्माण कर सके, उसे प्रोत्साहित कर सके और मानव-मानव मे सत्ता और स्वार्थों को लेकर पनपने वाली सघर्ष परम्परा को सदा के लिए समाप्त कर आत्म-ज्योति का सर्वोन्नत पथ प्रदर्शित कर सके, तभी विश्व शान्ति का सृजन सम्भव है। सिद्धान्तत किसी भी तत्त्व को स्वीकार करने की अपेक्षा उसे जीवन के दैनिक व्यवहार मे लाना वांछनीय है। उन्नति और विकास का वास्तविक रहस्य तभी प्रगट हो सकता है जब तत्त्व जीवन मे साकार हो, और वही भावी परम्परा का रूप ले। सर्वोच्च निर्दोष और बलिष्ठ जीवन पद्धति मानव ही नही प्राणी-मात्र के प्रति ममत्व मूलक जीवन की दिशा स्थिर कर सकती है। जीवन भी सचमुच आज एक जटिल समस्या के रूप मे खडा है। राजनीति और तर्क द्वारा इसे और भी विषम बनाया जा रहा है। और साथ ही आध्यात्मिक जागृति के पथ पर भी प्रहार किये जा रहे है, पर आश्चर्य तो इस बात का है कि उन्नतिमूलक आत्मिक तत्त्वसाधक तथ्यो को अतरग दृष्टि से देखने का प्रयत्न नही किया जा रहा है। ऐसी स्थिति मे सुरक्षित और शान्तिमय जीवन की स्थिति और भी गभीर हो जाती है। जीवन को जगत की दृष्टि से सतुलित बनाये रखने के लिए विकारो पर प्रहारो का स्वागत है, पर वे सस्कारमूलक होने चाहिए। मान लीजिये परिस्थितिजन्य वैषम्य के कारण आज हिंसा के नाम पर जो अहिंसा पनप रही है उसमे सशोधन अनिवार्य है।

सचमुच उत्कृष्ट तत्त्व को आचार पद्धति मे उतारने के लिए कुछ काठिन्य अनुभव होता है, पर असम्भव नही। जीवन मे अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए तत्त्व मनीषियो ने अपरिग्रहवाद की ओर सकेत दिया है। अनावश्यक और अनुचित सचय ही सघर्ष और हिंसा को प्रोत्साहन देते है। आज अधिक उत्पादन की ओर ससार जुटा हुआ है। दिनानुदिन आवश्यकताएँ इतनी बढी जा रही है कि इनकी पूर्ति मे ही जीवन समाप्त हो जाता है। उपभोग के लिए भी अवकाश नही मिलता। जब कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य मूलक और जनतान्त्रिक परम्परा का अनुगमन करने वाली श्रमणो की साधना ने यह सकेत दिया है कि यदि समाज और राष्ट्र मे शान्ति एव सन्तुलन की स्थापना करनी है तो व्यक्ति को ही सर्वप्रथम अपना आभ्यन्तरिक विकास करते हुए जीवन की आवश्यकताओ को कम करना होगा, ताकि अनावश्यक स्वार्थ-

लिप्सा और वासना विवर्द्धक तत्त्वों को पनपने का अवसर ही न मिले। जीवन एक ऐसी वस्तु है कि उसे किसी भी ढाँचे मे ढाला जा सकता है। अपरिग्रहवाद जनतन्त्र की बहुत बडी शक्ति है। सरल जीवन और उच्च आदर्श ही अहिंसा और अपरिग्रह का पोषण कर सकते है।

विज्ञान एक ऐसी दृष्टि है जिससे मानव किसी भी वस्तु के प्रति चमत्कारपूर्ण दृष्टि नही रख सकता। अर्थात् तथ्यान्वेषण के प्रति वह बुद्धि को बल देता है। वह ऐसा मापदण्ड बन गया है कि प्रत्येक वस्तु को इसी से नापा जाता रहा है। इसमे धर्म का भी अन्तर्भाव हो जाता है। वस्तुत आज की परिभाषा के अनुसार विज्ञान और धर्म भले ही समीपवर्ती तत्त्व जान पडते हो, पर इनका भिन्नत्व भी उतना ही स्पष्ट है। यो तो धर्म भी जीवन के प्रति व्यवस्थित विश्वासो की एक दृष्टि है जिसका सम्बन्ध आन्तरिक जगत् से है। वह आत्मिक वस्तु है। विज्ञान आत्मा जैसी वस्तु मे तनिक भी विश्वास नही करता। वह तो केवल छ द्रव्यो मे से केवल पौदग्लिक है। अदृश्य जगत् की ओर विज्ञान की गति नही है। ऐसी स्थिति मे विज्ञान और धर्म को एक नही माना जा सकता। हाँ, जहाँ तक दृष्टि साम्य का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक शोधन प्रक्रियामूलक दृष्टि से भी धर्म को देखा जा सकता है।

आज के वैज्ञानिक युग मे शिक्षितो का धर्म के प्रति आकर्षण बहुत ही शिथिल हो चला है। वे इसे विज्ञान की ज्योति मे देखना चाहते है। तत्त्वज्ञान को भी इसी कोटि मे ला खडा किया है। इसमे कोई सन्देह नही कि तत्त्वज्ञान और विज्ञान का निकट का सम्बन्ध है। विज्ञान को जहाँ अन्तस्तल मे देखने का प्रयत्न प्रारम्भ होता है वही अवस्था तत्त्वज्ञान के प्रवेश की है। और तत्त्वज्ञान का जहाँ विशद् व गभीर विचार किया जाता है, वहाँ विज्ञान का क्षेत्र स्वत प्रशस्त हो जाता है। भारत मे तत्त्वज्ञान को विज्ञान से पृथक् रखने की प्रथा रही है, जैसे कोई वह विशिष्ट वाद हो।

धर्म के प्रति नवमतवादी जागृत मानस के आस्थावान न होने का एक कारण यह भी है कि पिछले युग मे धर्म की, आत्मा को तो गौण समझा गया और शाखा-प्रशाखाओ के इतने अधिक पोषण व परिवर्द्धन पर बल दिया गया जैसे वही एकमात्र जीवन का साध्य हो। वही साम्प्रदायिकता का

सृजन हुआ और धर्म जैसा सीमित तत्त्व साम्प्रदायिक विकार के कारण तिमिराच्छन्न हो गया । वस्तुत धर्म जैसी पवित्र और व्यवहार शुद्धि सोपान स्वरूप वस्तु के प्रति किसी की अरुचि हो ही नहीं सकती, पर जब सस्कार के नाम पर विकारो का पोषण होता है वहाँ श्रद्धा जम नही सकती । धर्म के प्रति अनास्था का कारण वैज्ञानिक प्रगति न होकर उसके प्रति नव-मानस की आन्तरिक दृष्टि का न होना है । अनुभव तो और साधना की कमी के कारण ही वह विवाद की वस्तु बन गया है ।

यदि धर्म को एक विशुद्ध और व्यवहारवादी दृष्टि के रूप मे स्वीकार कर लिया जाय और इसके आगे किसी भी प्रकार की विशिष्ट सज्ञा से इसे अभिशिप्त न किया जाय तो यह एक ऐसी आत्मौपम्यमूलक दृष्टि प्रदान करेगा कि प्रत्येक विचार को सहानुभूति और सहिष्णुता मूलक दृष्टि से दूसरो को समझने का पर्याप्त अवसर प्राप्त होगा, जिसमे न वैयक्तिक मन-मुटावो की वृद्धि होगी न जन-जन मे वैर-विरोध और सतुलन विकृत होने की ही स्थिति का निर्माण होगा ।

"आधुनिक विज्ञान और अहिसा" के लेखक श्रीगणेश मुनिजी ने वर्तमान जीवन और जगत की विभीषिकाओ पर दृष्टि केन्द्रित करते हुए, विशिष्ट अनुभवो द्वारा जो प्रकाश डाला है वह विज्ञान और आध्यात्मिक सस्कृति मे रुचिशील पाठको के लिए नया मोड देने मे सहायता करेगा । विज्ञान जैसे महत्त्वपूर्ण विषय के साथ धर्म, अहिसा और दर्शन का जो समन्वय प्रस्तुत कृति मे दृष्टिगोचर होता है, वह उनकी अनुभूति की एक किरण है । मेरा विश्वास है कि प्राथमिक विज्ञान के अभ्यासियो के लिए यह कृति मार्गदर्शन का काम देगी तथा धार्मिक क्षेत्र मे विज्ञान के प्रति जो अरुचि फैली हुई है, उसे दूर करने मे भी मार्गदर्शन कराती हुई मुनिश्री के प्रयास को साफल्य प्रदान करेगी ।

77, भूपालपुरा, उदयपुर
दिनाक 9 2 1962

—मुनि कान्तिसागर

अपनी बात

आज का युग विज्ञान प्रधान होने से विश्व इतिहास मे नित नये महत्त्व-पूर्ण अध्याय जुडते जा रहे है। विज्ञान द्वारा मानवीय सुख समृद्धि के पोषण मे पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। मध्यकाल मे उच्च कोटि के शासक व श्रीसपन्न नागरिक जिन सुखोत्पादक उपादानो की कल्पना तक नही करते थे, वे अद्य-तन सामान्य नागरिक तक को सुलभ हैं। आवश्यकता से अधिक साधनो की सप्राप्ति कभी-कभी व्यक्ति को प्रमादी बना देती है तो कभी-कभी अल्प श्रम द्वारा अर्जित शक्ति विकराल रूप भी धारण कर लेती है। वासनावर्धक प्रत्येक वस्तु की अभिवृद्धि चाहे भले ही प्रारम्भिक काल मे अनुकूल प्रतीत होने लगे पर जब वह सर्वोच्च विकास की चोटी पर पहुँचती है तो उसके परिणाम मनुष्य के लिए सुखद नही होते। जैसे विज्ञान को ही लें, इसकी प्रारम्भिक परिणतियो मे मानव चमत्कृत हुआ पर इसके अकल्पित ध्वसात्मक परि-णामो से सिहर भी उठा। भय, आशका और अविश्वास से आज विश्व का मानव आकुल है। वह चाह रहा है कि विज्ञान का प्रयोग निर्माण के रूप मे हो। मानवीय सद्‌गुण और सहिष्णुता का युग अब करवट ले रहा है। भौतिक सुखापेक्षा अब आध्यात्मिक तत्त्व की ओर मनुष्य की सहज प्रेरणा गतिशील हो रही है। जो पश्चिमी राष्ट्र प्रत्यक्ष जगत को ही सब कुछ मानते आए थे, वे अब इतने ऊब गए हैं कि विवशतावश अकल्पनीय जगत के प्रति आकृष्ट हो रहे है। खान-पान, रहन-सहन मे भी आवश्यकताओ को सीमित कर रहे हैं। प्रत्येक वस्तु का औचित्य-अनौचित्य वस्तुपरक न होकर व्यक्ति-परक होता है, अर्थात दृष्टिकोण पर अवलम्बित है। साधक-बाधक तत्त्व भी व्यक्ति की दृष्टि पर निर्भर है। विज्ञान भी इस दृष्टि से यदि मानव को समुन्नति के शिखर पर पहुँचाकर सुख, शान्ति, समृद्धि, सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की ओर उत्प्रेरित करता है तो वह मानवता के लिए वरदान की परम्परा स्थापित कर सकेगा। यदि उत्पीडन मे इसका उपयोग किया गया तो इसके परिणामो के भुगतने या सोचने के लिए भी मानव मस्तिष्क

रहेगा या नहीं—यह प्रश्न है।

अहिंसा मानवीय व्यवस्थित जीवन पद्धति का आलोकपूर्ण पथ है। सर्वांगीण जीवन के सहअस्तित्व के आधार पर किए जाने वाले विकास को आलोकित करती है। मानव में ऋजुता उत्पन्न कर समता की साधना की ओर सकेत कर प्राणी मात्र का सर्वोदय ही इसका मुख्य लक्ष्य है। विज्ञान पर भी अहिंसा का अकुश अब तो परिस्थितिजन्य विषम वातावरण को देखते हुए अनिवार्य-सा प्रतीत होने लगा है। पारस्परिक निर्वैरभाव जगत को अहिंसा की साधना ही बल प्रदान कर मानव को मानव के नाते जीवित रहने की प्रेरणा देती है। सस्कृति और सभ्यता का वास्तविक विकास अहिंसा और विज्ञान के समन्वयात्मक सुख प्रयत्नो पर निर्भर है।

प्रस्तुत कृति मे यथामति विज्ञान की आवश्यकता, लाभालाभ और इस की सर्वोत्तम परिणति आदि विषयो पर सक्षेप मे प्रकाश डालने का प्रयत्न कर मानव काम्य तत्त्वो के प्रति ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। यह विज्ञान के सामान्य बोधगम्य तथ्यो का एक प्रकार से सकलन-सा है।

प्रस्तुत कृति के प्रथम प्रेरक सर्वोदयी सत श्री नेमीचन्द जी है, जिन्होंने मुझे उत्साहित करते हुए सुझाया कि अहिंसा के आलोक मे विज्ञान पर मैं कुछ लिखूं। परिणाम आपके सम्मुख है। उन्होने इसके सपादन के लिए जो श्रम किया है, तदर्थ किन शब्दो मे कृतज्ञता व्यक्त करू।

जब 1960 का ब्यावर का वर्षावास समाप्त कर उदयपुर पहुँचने पर मुनिश्री कातिसागर जी का समागम हुआ, प्रस्तुत कृति अवलोकनार्थ उन्हे दी गई। आपने इसकी उपयोगिता को देखकर भाषा विषयक आवश्यक सपादनार्थ सुझाव प्रेषित किये। मुझे भी जचा कि सचमुच कुछ आवश्यक और भी परिवर्तन करने पर कृति मे निखार आ जायेगा। यह परम सौभाग्य है कि मुनिश्री ने इसके सपादन व आवश्यक परिवर्तन-परिवर्द्धन का दायित्व स्वीकार कर लिया, साथ ही चार शब्द भी लिखकर जो अनुग्रह किया है, वह शब्दातीत है।

सर्वप्रथम मैं सद्गुरुवर्य श्रद्धेय मत्री श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के नि कृतज्ञता प्रकट करना चाहूगा कि उन्ही की प्रबल प्रेरणा और दिशा

दर्शन द्वारा मै कुछ हो सका। उन्ही की कृपा के कारण उत्साहित होकर मैं लेखनी सभाल सका।

श्रमण सघ के उपाध्याय प०प्रवर श्रद्धेय श्री हस्तीमल जी महाराज के चिन्तन और मनन भी मेरे लिए उचित पथ प्रदर्शक बने है। पूज्य सद्गुरुवर्य व उपाध्याय जी महाराज की अनुपमेय क्रियाशीलता को मैंने सदैव ही श्लाघ्य दृष्टि से देखा है।

अपने अभिन्न स्नेही साथी साहित्यरत्न और शास्त्री-पद विभूषित श्री देवेन्द्र मुनि महाराज के सौजन्य को इसलिए विस्मृत नही कर सकता कि उनकी प्रकृति अस्वस्थ रहने के बावजूद भी, मै उनसे सतत सहयोग लेता रहा हूँ। प० श्री हीरा मुनिजी महाराज व नवदीक्षित श्री चेतन मुनिजी महाराज के स्नेहास्पद व्यवहार तो स्मरणीय ही है।

जैन जगत के यशस्वी लेखक व वरिष्ठ सपादक प० श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने इसे ध्यान से देखकर सत् परामर्श द्वारा सुन्दर बनाने मे जो योग दिया है, वह हृदयपटल पर अकित रहेगा। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक व विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डा० दौलतसिह जी कोठारी, दिल्ली ने इसे पढकर जो बहुमूल्य विचार व्यक्त किए है वे मेरे उत्साह को बढा रहे है। भारतीय शासन के मान्य विशिष्ट वैज्ञानिक डा० डी० बी० परिहार साहब की सम्मति के प्रतिस्वरूप मै उनकी क्या प्रशसा करूँ। सद्गुरु भक्त सम्माननीय वकील श्री रोशनलाल जी मेहता, गोगुन्दा निवासी व चागपुरा (मेवाड) निवासी श्री टेकचन्द जी पोरवाड का सहयोग अविस्मरणीय रहेगा जिन्होने अमूल्य सहयोग देकर पाडुलिपि को मुद्रण योग्य बनाया।

अन्त मे मैं उन सभी लेखको व सहयोगियो का हृदय से आभार मानता हूँ, जिनका कि मैंने प्रस्तुत कृति मे सहयोग लिया है।

मैं कामना करता हू कि मानवता के विकास मे यह कृति कुछ भी पथ प्रदर्शक हो सकी तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूंगा।

बसन्त पचमी, —गणेशमुनि शास्त्री
सादडी (मारवाड) 'साहित्यरत्न'
दिनाक 9 2 1962

कहाँ क्या है ?

शरीर और समाज-जीवन को ओर न पोषण भी करती है। इन दोनों शक्तियों ने अपनी-अपनी दृष्टि से मानव समाज को सदा प्रभावित किया है। विज्ञान ने पदार्थ रचना में मानव जगत् में भौतिक सुविधाएँ दी हैं तो अहिंसा ने भी अपनी आत्मिक साधना द्वारा समाज को नैतिक भावना का परिचय देकर मानव समाज को अनुप्राणित किया है। मानव जगत् के भौतिक क्षेत्र को विज्ञान ने इतना अधिक प्रभावित किया है कि सामाजिक जीवन-यापन की प्रक्रियाओं का सीधा सम्बन्ध इसी से है, क्योंकि सामाजिक संगठन और अन्य आवश्यक शक्ति-स्रोतों को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए विज्ञान अत्यन्त आवश्यक शक्तिपुंज है। इसकी प्राप्ति के लिए मानव को कठिन साधनाओं का सामना करना पड़ा है। चिन्तन, मनन एवं प्रयोगों द्वारा इसकी सार्थकता पर जहाँ गम्भीर गवेषणा विकसित रही है, वहाँ अहिंसा तत्त्व की उपलब्धि के लिए भी ऋषि-मुनियों को तपोमय जीवन व्यतीत करना पड़ा है। अहिंसा का सीधा सम्बन्ध आध्यात्मिक शक्ति अर्थात् आत्मपरक होकर भी उसका स्वरूप सामाजिक ही रहा है। भौतिक-प्राकृतिक शक्ति, जो पौद्‌गलिक शक्ति का ही एक अंग है, पर आध्यात्मिक शक्ति का नियन्त्रण, सामाजिक शान्ति के लिए बनाये रखना आवश्यक है और यह अहिंसा की आध्यात्मिक शक्ति द्वारा ही सम्भव है। अहिंसा के सफल प्रयोगों द्वारा सहस्राब्दियों तक मानव समाज ने ही नहीं, अपितु, प्राणी-मात्र ने शान्ति और सन्तोष का अनुभव किया है। ये शक्तियाँ ही राष्ट्र की अनुपम सम्पत्ति हैं, जिनके सदुपयोग पर मानव समाज का वास्तविक गठन अवलम्बित है। अतीत इसका साक्षी है कि इनकी साधना में मानव ने कभी सफलता और कभी विफलता ही प्राप्त की है।

भारत की विशेषता

प्रत्येक राष्ट्र की एक ऐसी सास्कृतिक मौलिक सम्पत्ति होती है, जिससे न केवल राष्ट्र निवासी ही, अपितु, परराष्ट्रीय समाज भी अनुप्राणित होता रहा है। भारतवर्ष की अपनी निजी विशेषता अध्यात्मशक्ति की मौलिकता पर अवलम्बित रही है। भारतीय चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु अहिंसा—अध्यात्म रहा है। संस्कृति इस महान् शाश्वत तथ्य से आवृत है। साहजिक वृत्ति और दृष्टि अध्यात्म से ओत-प्रोत रही है। यही कारण है कि भारत शताब्दियो तक विभिन्न जातियो के सास्कृतिक आक्रमण के बावजूद भी अपना मौलिक व्यक्तित्व सुरक्षित रखने मे समर्थ रहा है। आत्मपरक सिद्धान्त ही किसी भी राष्ट्र की नीव है। यहाँ प्रसगत स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पडता है कि भारतीय चिन्तन का स्वर अत्यधिक आत्मलक्षीय रहने का यह तात्पर्य नही है कि वह प्राकृतिक—भौतिक—जगत के प्रति पूर्णत उपेक्षित रहा। अतीत के आलोक से स्पष्ट है कि भारतीय मनीषियो ने जितना श्रम और शक्ति का व्यय आत्मपरक गवेषणा मे लगाया है उतना ही भौतिक शक्ति की विभिन्न शाखाओ के अनुशीलन मे भी।

आत्मलक्षीय सस्कृति के प्रति यहाँ के सन्त-महन्त और तीर्थंकरो का झुकाव इसलिए विशेष रहा है कि केवल भौतिक शक्ति की उपासना या प्राप्ति ही मानव का चरम साध्य न रहकर, एक मात्र साधन रहा है। साध्य की प्राप्ति तो अन्तर्मुखी चित्त वृत्ति के विकास द्वारा ही सम्भव है, जो अहिंसा की सक्रिय साधना द्वारा प्राप्य है। दार्शनिक चिन्तकों ने भौतिक शक्ति को वश मे करना ही मानव की अन्तिम विजय नही माना। बाह्य शक्ति का एकीकरण या विकास भले ही राष्ट्र और समाज मे क्षणिक सुख-शान्ति का प्रसार कर सके, पर वह स्थायी शान्ति का जनक नही हो सकता। शाश्वत शान्ति का गम्भीर सन्देश वीतराग वाणी मे इस प्रकार प्रतिध्वनित हुआ है—

'एक व्यक्ति हजारो-लाखो योद्धाओ को रण मे परास्त कर देता है, पर वह उसकी वास्तविक विजय नही है। वस्तुत विजय आत्मविजयी होने मे है।'[1] आत्मविजय ही अहिंसा या आध्यात्मिक शक्ति का साकार स्वरूप है। भरत और बाहुबलि का उदाहरण हमारे सम्मुख है। वह इस बात को बहुत ही स्पष्ट कर देता है कि विजय प्राप्ति की अपेक्षा स्व पर सयम द्वारा नियन्त्रण या विजय पाना लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग है। 'स्व' और 'पर' को भी दोनो शक्तियो का प्रतीक मान सकते है। स्व आध्यात्मिक शक्ति अहिंसा और पर भौतिक-पौद्गलिक या प्राकृतिक शक्ति। समस्त भारतीय आस्तिक दर्शन की रीढ स्व और पर के भेदो पर आश्रित है। इन पक्तियो से स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक शक्ति पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्ति की सक्रिय उपासना अधिक श्रेयस्कर और उपादेय है।

भारतीय तत्त्व-चिन्तको ने जहाँ भौतिक चिन्तन की परम्परा का सूत्रपात किया, वहाँ उस पर आध्यात्मिक अकुश भी लगाने से न चूके, ताकि भारतवासी केवल बाह्य तत्त्वो मे ही लिप्त न हो जाय व आत्मपरक अध्यात्म शक्ति की उपेक्षा न कर बैठे। वे नही चाहते थे कि मानव का एकागी विकास हो।

भौतिकता की ओर

मनुष्य का सर्वांगीण चिन्तन साकार हो, वह स्वस्थ परम्परा का रूप ले, यह सर्व काल मे सम्भव नही देखा गया, क्योकि त्यागमूलक सस्कृति के प्रतिष्ठाता मानव को जिस भौतिक शक्ति की चकाचौध से रोकने के लिए प्रयत्नशील रहे, उसमे वे अधिक समय तक सफल न हो सके। कालान्तर मे मानव समाज भौतिक शक्ति के प्रति इतना अधिक झुकने लगा कि वह अपनी प्राणवान् परम्पराओ को भी विस्मृत कर बैठा। पाश्चात्य सभ्यता के प्रकाश ने भारतीय मानस को भी पुद्गलानन्दी बना दिया। यहाँ तक कि जो भारतीय जनता त्याग और वैराग्य को अपने जीवन का अग सम-झती थी, अब वह इतनी अर्थमूलक हो चली है कि जैसे उसके जीवन का

1 जो सहस्सं सहस्साणं, सगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥

—उत्तराध्ययन-सूत्र, 9, 34

काम्य ही प्राकृतिक—भौतिक शक्ति हो। विज्ञान के प्रभाव ने भले ही अन्य किसी जगत् मे उन्नति के सूत्र प्रसारित किये हो, पर, आध्यात्मिक जगत् को तो उसने झकझोर दिया है। तात्पर्य, अन्य देशो की तरह भारत की भौतिक शक्ति के प्रतिनिधि विज्ञान की ओर आकृष्ट है। हमारा मन्तव्य यह नहीं कि विज्ञान उपेक्षणीय रहे, बल्कि, हम चाहते यह है कि विज्ञान सृजन का प्रतीक हो, न कि ध्वस का। पाश्चात्य वैज्ञानिक भी अब यह मानने लगे हैं कि जो विज्ञान मानव-नाश का कारण है वह अपनी मूल सज्ञा खो बैठता है।

दो घट

प्राचीन भारतीय वाड्मय मे निम्न रूपक पाया गया है, "परमात्मा ने मनुष्य को, जब वह दुनिया मे जाने लगा, दो घट दिये—एक मे 'सत्य' और दूसरे मे 'सुख' भरा था। दोनो घट देते समय परमात्मा ने कहा, ससार मे जा रहे हो तो यथाशक्य सत्य की रक्षा करना, प्राण देकर भी सदैव सुख खर्च करते रहना। दाहिने हाथ के घट मे सत्य और बाएँ हाथवाले घट मे सुख था। थके-मादे मानव को मार्ग मे निद्रा ने आ घेरा। शैतान अवसर की ताक मे ही था, उसने बाएँ हाथ का घडा दाएँ मे और दाएँ का बाएँ मे कर दिया। इसका चातुर्य निद्रा से उठने पर मानव न समझ सका, परिणाम यह हुआ कि दुनिया मे आकर मनुष्य प्राणप्रण से सुख की रक्षा मे लीन हो गया और सत्य को यो ही फेंकने लगा।"

उपर्युक्त रूपकान्तर्गत तथ्य अक्षरश मानव जीवन पर चरितार्थ होता है। आज का मानव भौतिक सुख मे इतना तन्मय हो गया है कि आध्यात्मिक सुख के मूल स्वरूप अहिसा और सत्य को ही विस्मृत कर बैठा।

सुखान्वेषण का परिणाम

प्राणी मात्र सुखाभिलाषी है। अपनी-अपनी सामर्थ्य शक्ति के अनुसार सभी सुख प्राप्ति का पुरुषार्थ करते रहते हैं। ससार मे मनुष्य विचारशील होने के कारण सुख-सुविधा की शोध मे इतर प्राणियो की अपेक्षा, सदैव अग्रसर रहा है। वह विचार और विवेक के आलोक मे न केवल स्वविकासार्थ चिन्तन-मनन मे ही निरत रहा, अपितु, अपनी उदात्त चिन्तनधारा के अनुसार श्रद्धा का निर्माण कर जीवन मे प्रतिष्ठा के लिए भी कम प्रयत्नशील नहीं रहा। उच्चतम विचारो का वास्तविक महत्त्व उन्हे दैनन्दिन जीवन

का सक्रिय अग बनाने मे है। जो प्राणी या जाति सुन्दर, प्रेरक और उपादेय विचारकणो को स्वजीवन मे प्रतिष्ठित नही करती, वह न तो उन्नति के शिखर पर पहुच सकती है और न ससम्मान जीवित रह सकती है, और न भविष्य के लिए उत्क्रान्तिपूर्ण विकास परम्परा ही छोड जाती है। इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि मानव ने अपनी शक्ति के बल पर सर्दव यह चेष्टा की है कि पौद्गलिक शक्ति एकान्तरूपेण उस पर अपना अधिकार कही स्थापित न कर ले। मानवेतर प्राणियो के समान भौतिक शक्ति के वशवर्ती कभी नही रहा। हां, भौतिक वैभव वृद्ध्यर्थ अधिक-से-अधिक श्रम कर सुख के साधन एकत्र करने मे आशातीत सफलता प्राप्त्यर्थ अवश्य ही प्रयत्नशील रहा व आंशिक रूप मे कृतकार्य भी हुआ। आज मानव पौद्गलिक शक्ति की चरम सीमा पर पहुँचने के लिए आशान्वित है।

मानव स्वीकृत सुख आधिभौतिक था। आधुनिक विज्ञान को भी सुखान्वेषण वृत्ति का ही परिणाम, कुछ अंशो मे मान लिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। आज की अपेक्षा अतीत के मानव की सुख की परिभाषा भिन्न थी। उसका रहन-सहन, रीति-नीति और जीवन-यापन का ढग सापेक्षत सर्वथा था। ज्यो-ज्यो जिज्ञासु बुद्धि के प्रकाश मे मानव ने विकास के लिए चिन्तन भिन्न को विस्तृत किया त्यो-त्यो उसकी लौकिक भावना गतिमान होती गई। अर्वाचीन और अतीत के मानवो की चिन्तन-धारा मे बहुत बडा अन्तर रहा है। समाजशास्त्र का यह अकाट्य नियम रहा है कि विकास-मात्र युगानुकूल साधन और परिस्थितियो पर निर्भर रहता है।

यहां एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक जान पडता है कि पशुओ मे परिवर्तन की वृत्ति का अभाव होता है। वह जैसा अतीत मे था वैसा आज भी है। उदाहरणार्थ उसकी मांद मे अन्य पशु के प्रविष्ट हो जाने पर उसे समझा-बुझाकर विदा करने का ढग पशु के समाज मे नही है, बल्कि इसके विपरीत घुर्राना, झपटना, नोचना, शृगो से प्रहार करना, लातें मारना और घुरकना आदि प्रवृत्तियो द्वारा रक्षा की जाती रही है। तात्पर्य यह कि पशु प्रकृति प्रदत्त सुख-सुविधाओ तक ही अपने को सीमित रखता है जब कि मानव केवल प्रकृति के आसरे न रहकर सतत् चिन्तन और श्रम द्वारा जीवन-रक्षा के नित नये साधनो का आविष्कार कर रहा है।

तीन

विज्ञान क्यों और कैसे

मानव की सुखान्वेषण वृत्ति का परिणाम ही विज्ञान है। इसके आविष्कार ने नूतनत्व के कारण मनुष्य को भूल-भुलैया मे डाल दिया है। वह यह सोचने की स्थिति मे नही है कि वास्तविक सुख कहाँ और किसमे है? क्योकि अतीत मे उन दिनो के विज्ञान की परिभाषा के अनुसार जो वैज्ञानिक आविष्कार होते थे उनका उपभोग आज के समान जन साधारण न कर पाता था, जब कि आज एक वैज्ञानिक की साधना के परिणाम मे विश्व के मानव न केवल प्रभावित ही होते है, अपितु, उससे लाभान्वित होकर दैनिक जीवन की समुचित आवश्यकताओ की पूर्ति भी सरलतापूर्वक कर सकते है। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने 'विज्ञान कार्मणे ज्ञाने।' सक्रिय ज्ञान (Practical Knowledge) को ही विज्ञान कहा है।

जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य को प्रत्यक्ष कार्य करते हुए नैपुण्य प्राप्त हो, वही विज्ञान है। भौतिक विज्ञान की दृष्टि मे अन्तिम तथ्य के रूप मे माना जाने वाला प्रत्यक्ष दार्शनिक प्रत्यक्ष से भिन्न होता है, अर्थात् पौद्गलिक शक्ति और उसके पर्यायो का पूर्ण ज्ञान तब तक सम्भव नही है जब तक कि मनुष्य ज्ञान की समस्त धाराओ के प्रकाश को प्राप्त नही कर लेता है। वैज्ञानिक प्रत्यक्ष सीमित है और ज्ञान प्रभा से आलोकित प्रत्यक्ष असीमित है। ज्ञान अनेक मे से एक की ओर ले जाता है तो विज्ञान एक मे से अनेक की ओर। ज्ञान आध्यात्मिक अहिंसामूलक शक्ति का प्रतिनिधि है तो विज्ञान भौतिक शक्ति का प्रतीक है। आध्यात्मिक जीवन विकास के लिए ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है तो भौतिक सुख-समृद्धि और वैभव की प्राप्ति के लिए विज्ञान उपादेय है।

विज्ञान क्या है?

मानव जीवन सत्यान्वेषण की एक बहुत बडी प्रयोगशाला है। इसके

शाश्वत प्रयोगो द्वारा जो सत्य समुपलब्ध किये गए उनकी सुवास से आज भी हम अनुप्राणित होते है। यद्यपि प्राप्त प्रयोगो का वर्णन वाणीगम्य नही, फिर भी इतना कहना पडेगा कि जितनी ही व्यक्तियाँ है, उतनी ही अभिव्यक्तियाँ है और प्रत्येक अभिव्यक्ति सप्रयोग ही होती है। अत महापुरुषो की दीर्घकाल-व्यापी वैज्ञानिक साधना-जनित सत्यान्वेषण वृत्ति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक रहा है। जो कार्य जीवन मे नैकट्य स्थापित कर लेता है उसे परिभाषा के रूप मे शब्दो की सीमा मे कैसे आबद्ध किया जा सकता है ? विज्ञान भी ऐसा विशिष्ट तथ्य है जिसकी शब्दो द्वारा पूर्ण अभिव्यक्ति असम्भव न हो पर कठिन अवश्य है।

विज्ञान का सामान्य अर्थ यही लिया जाता है कि ज्ञान के चिन्तन द्वारा गम्भीरता प्राप्त करना अथवा सत्यान्वेषण के लिए व विश्व के निगूढ-तम तिमिराच्छन्न तथ्यो के प्रकाशनार्थ किये जाने वाले प्रयासो को ही विज्ञान की सज्ञा दी जाती है। पाश्चात्य विद्वान् स्पेंसर (H Spencer) के विचारो मे Science is an organized knowledge है।

चार

जैन दृष्टि से विज्ञान

जैन तत्त्वमनीषियो ने मुख्यत आध्यात्मिक तत्त्व विद्या के प्रति अपना झुकाव रखते हुए भी विश्व के विविध स्वरूपो व मानव जीवन को भौतिक दृष्टि से सुखी और समृद्ध बनाये रखने के लिए वैज्ञानिक उपकरणो का उल्लेख करते हुए विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार बताई है—

आर्यवर्त के महामानव भगवान् महावीर से एक साधक प्रश्न करता है—

साधक—भगवन्! श्रवण का फल क्या है?

भगवान्—साधक! श्रवण से ज्ञान की प्राप्ति होती है।

साधक—भगवन्! ज्ञान का फल क्या है?

भगवान्—साधक! ज्ञान का फल विज्ञान है।[1]

ज्ञान—श्रुतज्ञान—विज्ञान अर्थात् हेय और उपादेय का जो निश्चय कराने वाला ज्ञान है, वही विज्ञान कहलाता है। ग्राह्याग्राह्य तत्त्वो की समीचीन समीक्षा ही विज्ञान है। जन प्राकृत, संस्कृत एव अन्य सर्वजनगम्य भाषाओ मे लोक-जीवन और लोक-संस्कृति का विशद विवेचनात्मक वर्णन करने वाले शताधिक ग्रन्थ विद्यमान हैं तथा विशेषकर कथा साहित्य मे भी तात्कालिक प्रचलित वैज्ञानिक तथ्यो का समावेश किया गया है। इस नव ज्योति के युग मे भले ही उपर्युक्त साहित्य-सूचित वैज्ञानिक तथ्य अविकसित या सामान्य प्रतीत होते हो, पर तत्त्वत प्राप्त साधनो के आधार पर, मानवीय जिज्ञासा वृत्ति के पोषणार्थ, जैन वैज्ञानिक अवश्य ही प्रयत्नशील रहे हैं। छ द्रव्यो मे का पुद्गल, एक ऐसा द्रव्य है जो विश्व विज्ञान का आधार

1 से रा भन्ते! सवणे कि फले? णाण फले।
से रा भन्ते! णाणे कि फले? विण्णाण फले॥

—स्थानागसूत्र 3-3-190

के क्षेत्र मे सीमित रहे है। यहाँ तक कि बर्कले जैसे चैतन्यवादी दार्शनिक मे भी आत्म जिज्ञासा का भाव प्रबल नही रहा है। प्लेटो और अरस्तू मे भी यह भाव प्राधान्य नही है। दार्शनिकों की पद्धतियो मे ईश्वर की धारणा का स्थान गौण होता है। अध्यात्मवादी हीगेल ने भी दर्शन मे उपास्य ईश्वर और आत्मा को गौण माना है। वह विश्व ब्रह्माड की अमूर्त धारणा सृष्टि को भारतीय आत्मतत्त्व से नितान्त भिन्न मानता है। यूरोपीय दार्शनिकों का चिन्तन केवल चिन्तन के लिए ही रहा है। उसका अन्य कोई लक्ष्य या उद्देश्य नही। इसके विपरीत भारतीय दर्शन एक महान् उद्देश्य लेकर प्रवृत्त हुआ और वह था जीवन का अन्तिम साध्य—मोक्ष। दर्शन को इसका साधन माना गया। केवल यही नही अनेक दर्शनो के अनुसार दर्शन और चिन्तन का प्रचार विषय ही आत्मा और परमात्मा की जिज्ञासा रहा है। उपनिषदो से लगाकर अद्यतन युगीन दार्शनिक मनीषियो ने दर्शन को इसी रूप मे व्यवहृत किया है। प्रत्येक दर्शन परमपद का आकाक्षी है। जीव को माया या कर्म के बधन से मुक्त कर अमरत्व के अमर-पथ की ओर ले जाता है। एक प्रकार से भारतीय दर्शन सक्रिय है और वह मनुष्य मात्र को चिन्तन के साथ सद्भावना, सहिष्णुता, सदाचार और नैतिक प्रवृत्तियो की ओर भी प्रोत्साहित करता है। एक ओर जहाँ वह विश्व की विशाल व्याख्या करता है वहाँ दूसरी ओर मानवीय वृत्ति और उसके सामाजिक विकास की ओर भी उत्प्रेरित करता है। भारतीय दर्शन का चिन्तन बौद्धिक जगत् तक सीमित न रहकर मनुष्य के व्यावहारिक क्षेत्र को भी पूर्णतया प्रभावित करता है और जीवन के प्रति एकान्त व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रबल समर्थन भी करता है। यही उसकी मौलिक विशेषता है। यही विश्व शाति का सोपान है।

दर्शन की परिभाषा

दर्शन का सीधा अर्थ है दृष्टि। बहुत-से लोग दर्शन का अर्थ उस दृष्टि से लेते है कि जिस दृष्टि का प्रयोग हम दुनिया को देखने मे करते है, पर दार्शनिक जगत् के लिए यह दृष्टि अनुपयुक्त है। दार्शनिक क्षेत्र की दृष्टि कुछ और है और बहिर्जगत् की दृष्टि कुछ और। हम रात-दिन जिन चक्षुओ से काम लेते है वह बहिर्दृष्टि कहलाती है। दर्शन मे प्रयुक्त दृष्टि बुद्धि से सबद्ध है। विवेक, विचार, चिन्तन आदि दर्शन-दृष्टि का विषय है। इसको आन्तरिक

दृष्टि भी कह सकते है ।

"इस अनादि-अनन्त ससार मे सयोग-वियोगजन्य सुख-दु ख की अवि-रल धारा वह रही है, उसमे गोता लगाते-लगाते जब प्राणी थक जाता है तब वह शाश्वत आनन्द की शोध मे निकलता है। वहाँ हेय और उपादेय की मीमासा होती है वही दर्शन बन जाता है ।"[1] सीधे शब्दो मे यदि कहे तो तत्त्व का साक्षात्कार करना अथवा उसकी उपलब्धि ही दर्शन है ।

जिस समय मनुष्य जड और चेतन, जीवन और जगत् के सम्बन्ध मे कुछ समझने का प्रयास करता है, उस समय उसकी विवेकमयी बुद्धि जागृत होकर चिन्तन के मधुर क्षणो मे आगे बढती है । इसी का नाम दर्शन है । दूसरे शब्दो मे यदि कहें तो "दर्शन जीवन और जगत अथवा जड और चेतन को समझने का एक सुप्रयास है ।"[2]

दार्शनिक व्यक्ति जीवन और जगत् का गम्भीर अध्ययन करता है । उसके गम्भीर अध्ययन मे इतनी परिपक्वता आ जाती है कि वह जीवन और जगत् का अध्ययन खण्डश न कर अखण्डता मे करता है । प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् प्लेटो के शब्दो मे—"दार्शनिक साधारण नही होता है, वह सपूर्ण काल व सत्ता का द्रष्टा होता है ।" साराश यह है कि दर्शन का क्षेत्र बहुत विस्तृत एव विराट् है, वह किसी परिधि मे घिरा हुआ नही है ।

जैसे कलाकार या विज्ञानवेत्ता सत्ता के किसी एक अश या रूप का ही विशेष अध्ययन करके रह जाता है, वैसे दार्शनिक नही । वह तो सत्ता के सभी धर्मों का एक साथ अध्ययन करता है । जगत् के प्रत्येक तत्त्व की गह-राई मे पहुँचने का प्रयास करता है । 'जिन खोजा तिन पाईया गहरे पानी पैठ' के कथनानुसार दार्शनिक की खोज असाधारण होती है । वह विश्व का अध्ययन करते समय प्रत्येक पहलू पर चिन्तन करता है, तर्क करता है और

---

1 इह हि रागद्वेषमोहाद्यभिभूतेन सर्वे प्राणि ससारि जन्तुना शारीर - मानसाऽनेकाति कटुक दु खोपनिपातपीडितेन तदपनयनाय, हेयोपादेय परिज्ञाने यत्नोविधेय । स च न विशिष्ट विशिष्ट विवेक भृते ।

—आचा० वृ० 1-1 उपोद्घात

2 'जैन दर्शन' मोहनलाल जी मेहता ।

तर्क को वास्तविकता की कसौटी पर कसकर उसका समीचीन समाधान भी करता है। जगत् के मूल मे कौन-सा तत्त्व काम करता है ? जीवन का उस तत्त्व के साथ क्या सम्बन्ध है ? आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्वो की सत्ता मे क्या अन्तर है ? जीव और शीव के बीच कौन-सा तत्त्व बाधक है ? वह उनसे भिन्न कैसे हो सकता है ? ज्ञान और बाह्य पदार्थों के बीच क्या सम्बन्ध हो सकता है ? हेय, ज्ञेय और उपादेय का सम्यक् विश्लेषण करना आदि तात्त्विक विषयो की खोज ही दर्शन का प्रमुख समुद्देश्य है। दर्शन भौतिक विज्ञान की भाँति वस्तु या पदार्थ का विश्लेषण ही नहीं करता, किन्तु उसकी उपयोगिता पर भी विचार करता है। वह जीवन और जगत् की वास्तविकता, अवास्तविकता का भी पूर्ण परिचय कराता है। इस प्रकार दर्शन का स्वरूप दर्शाने के पश्चात् दर्शन का उद्गम स्थल कौन-सा है, और क्या हो सकता है, इस पर विभिन्न परम्पराओ का दृष्टिकोण प्रकाश मे लाना आवश्यक हो जाता है।

दर्शन का उद्गम स्थल

मानव चिन्तनशील प्राणी है। चिन्तन मानव का आदि स्वभाव है। वह प्रत्येक वस्तु पर चिन्तन-मनन करता है। जहाँ से मानव चिन्तन-मनन प्रारम्भ करता है, वही से दर्शन प्रारम्भ हो जाता है। इस सिद्धान्तानुसार दर्शन उतना ही पुरातन है जितना कि मानव स्वय। फिर भी दर्शन की उद्भूति के सम्बन्ध मे दार्शनिक विद्वानो के विभिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। जिनको जैसी परिस्थिति तथा वातावरण प्राप्त होता रहा, उसके अनुरूप दर्शन उद्भूत चिन्तन की अनुभूति होती रही है। किसी ने तर्क को प्रधानता दी, किसी ने बाह्य जगत् को, किसी ने आत्म तत्त्व को तो किसी ने सन्देह और आश्चर्य को। इन सब दृष्टिकोणो के अतिरिक्त इसमे कुछ और भी बाह्य परिस्थितियाँ कार्य करती हुई दिखलाई पडती है।

तर्क—कुछ दार्शनिको का यह अभिमत है कि दर्शन का उद्गम स्थल तर्क है। 'किं तत्त्वम्' इस तर्क मे ही दर्शन का आविर्भाव होता है। दर्शन युग के प्रसव से पूर्व श्रद्धा युग था। श्रद्धा युग मे आप्त पुरुषो की वाणी को अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से मानते थे। क्योंकि मानवो के मस्तिष्क मे यह कल्पना होती थी कि यह जो कहा जा रहा है वह हमारे परम आराध्य देव के श्रीमुख से उच्च-

रित है, अत वह बिना किसी सकोच के उसे स्वीकार कर लेता है। यह वाणी महावीर की है, यह उपदेश बुद्ध का दिया हुआ है, यह शिक्षा मनु की दी हुई है, इस प्रकार जिस व्यक्ति की श्रद्धा जिसके प्रति होती थी, उस पुरुष के वचन उसके लिए शास्त्र रूप बन जाते है। युग परिवर्तनशील है। इस दृष्टि से युग ने करवट बदली, मानव मस्तिष्क की उर्वरा भूमि से श्रद्धा के स्थान पर तर्क के अकुर प्रस्फुटित होने लगे। मनुष्य के विचारो का मन्थन चला और तर्क ने अपना बल पकड लिया। यह उस पुरुष ने कहा है, इसलिए हम सत्य मानें, ऐसा क्यों ? सत्य का मानदण्ड तर्क, युक्ति और प्रमाण होना चाहिए। बस यही से दर्शन का उद्गम होता है।

आश्चर्य—प्रतिभासम्पन्न पाश्चात्य दार्शनिक 'प्लेटो' आदि का यह मन्तव्य है कि दर्शन की उद्भूति आश्चर्य से हुई है। जब मानव प्रारम्भ मे किसी अद्भुत वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करता है तो सहसा उसके हृदय मे आश्चर्य उत्पन्न होता है, और यह होना भी स्वाभाविक है। उस आश्चर्य को शान्त करने के लिए उसकी जिज्ञासा, चिन्तन और कल्पना आगे बढती है। क्रमश धीरे-धीरे यही जिज्ञासा, चिन्तन और कल्पना दर्शन के रूप मे परिवर्तित हो जाती है।

सन्देह—इसी प्रकार कुछ दार्शनिको का विश्वास है कि दर्शन की उद्भूति आश्चर्य से नही किन्तु सन्देह से हुई है। जब मानव को स्वय के विषय मे अथवा इस भौतिक जगत् की सत्ता के सम्बन्ध मे सन्देह समुत्पन्न होता है, उस समय उसकी विचारधारा जिस मार्ग का अनुसरण करती है, वही मार्ग दर्शन का रूप धारण करता है। प्रसिद्ध विद्वान् 'डेकार्ड' आदि का अभिमत भी इसी प्रकार का है।

बुद्धि-प्रेम—बहुत से दार्शनिक दर्शन की उद्भूति का आधार बुद्धि-प्रेम से मानते है। इन्सान अपनी बुद्धि से बहुत स्नेह करता है, वह उसे विकसित देखना चाहता है। बुद्धि-प्रेम की अभिव्यक्ति ही दर्शन के रूप मे प्रकट होता है। इस कारणानुसार दर्शन का अन्य कोई प्रयोजन नही, केवल बुद्धि का ही स्वय विकास हो। यहाँ जिस बुद्धि का प्रयोग हुआ है उसे सामान्य विचार-शक्ति न समझकर विवेक युक्त बुद्धि समझना उपयुक्त होगा।

आध्यात्मिकता—कुछ दार्शनिक ऐसे भी है जो दर्शन की उद्भूति मानव

मे रही हुई आध्यात्मिक शक्ति की प्रेरणा मानते है। जब मनुष्य को बाह्य-भौतिक पदार्थ मे शान्ति का अनुभव नही होता है, तब वह 'चिर शान्ति' की खोज करने लगता है। आध्यात्मिक पिपासा पूर्त्यर्थ नवीन मार्ग का अनुगमन करता है। मानव के इस प्रयत्न को ही दर्शन का नाम दिया गया है। आध्यात्मिक प्रेरणा का प्रमुख आधार है वर्तमान मे असतोष और भविष्य की उज्ज्वलता का दर्शन। यही भारतीय परम्परा मे दर्शन की आधार भूमि रही है। आध्यात्मिक प्रेरणा मे जिस दर्शन की उद्भूति होती है, वह दर्शन उच्चकोटि का समझा जाता है। कुछ दार्शनिक व्यावहारिकता से भी दर्शन उद्भूति का सम्बन्ध लागू करते है।

इस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिको की दृष्टि मे तर्क, सशय, आश्चर्य आदि दर्शन के प्रादुर्भाव के कारण माने गए है। पर पौर्वात्य दार्शनिको की दृष्टि से दुःख ही दर्शन-उत्पत्ति का प्रधान कारण है। दुःख से मुक्ति पाना यही भारतीय दर्शनशास्त्र का मुख्य ध्येय है।

भारतीय संस्कृति में दर्शनों का स्वरूप

प्रतापपूर्ण प्रतिभा सम्पन्न आचार्य हरिभद्र ने अपने 'षड्दर्शन समुच्चय' मे भारतवर्ष मे प्रचलित प्रधान दर्शनो का विवेचन प्रस्तुत किया है। उसमे सर्वप्रथम बौद्ध-दर्शन का उल्लेख है।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन के प्रणेता महात्मा बुद्ध है। इस दर्शन मे मुख्य चार तत्त्व हैं, जिन्हे वे आर्य सत्य के नाम मे सम्बोधित करते है (1) दुख, (2) समुदय, (3) मार्ग और (4) निरोध। प्रथम आर्य सत्य दुख है। बौद्ध-दर्शन का प्रमुख उद्देश्य इस दुख से मुक्त होना है। ससारावस्था के पाँच स्कन्ध है, और ये ही दुख के प्रमुख कारण है। वे पाच स्कन्ध इस प्रकार है—विज्ञान, वेदना, सज्ञा, सस्कार और रूप।[1] जब ये पाँचो स्कन्ध समाप्त हो जाते है, तब दुख स्वत समाप्त हो जाता है। दूसरा आर्य सत्य है समुदय। इसका तात्पर्य है आत्मा मे राग-द्वेष की भावना उत्पन्न होना। इस विराट् विश्व मे यह मेरा है, यह तेरा है। यह जो राग-द्वेषमय भावो की अभिव्यजना है वही समुदय है।[2] तृतीय आर्य सत्य है मार्ग। मार्ग का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि ससार मे जितने भी घट, पट आदि पदार्थ है, वे सभी क्षणिक है। जो प्रथम क्षण मे थे वे द्वितीय क्षण मे नही है, किन्तु मिथ्या-वासना के कारण यह वही है ऐसा आभास होने लगता है। इनके विपरीत समस्त पदार्थ

---

1. दुःख ससारिण स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिता ।
   विज्ञान, वेदना, सज्ञा, सस्कारो रूपमेव च ॥
2. समुदेति यतो लोके, रागादीना गणोऽखिल ।
   आत्माऽऽत्मीय भावाख्य समुदय स उदाहृत ॥
   —बौद्ध दर्शन, षड्दर्शन समुच्चय।

क्षणिक है, ऐसा संस्कार उत्पन्न हो जाना मार्ग है।[1] चतुर्थ आर्य सत्य निरोध है। सर्व प्रकार के दुःखों से मुक्ति मिलने का नाम ही निरोध है।

इस प्रकार बौद्ध-दर्शन का मूलाधार दुःख ही है। संसारी जीव को सत्त्व रूप दुःख से पृथक् करना, यही बौद्ध-दर्शन के आविर्भाव का समुद्देश्य है।

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन के संस्थापक अक्षपाद ऋषि थे। इस दर्शन के आराधक देव महेश्वर है जो सृष्टि के उत्पादक, रक्षक और संहारक है। वह विभु, नित्य तथा सर्वज्ञ है, जिनकी प्रेरणा से ही समस्त सृष्टि का संकलन, आकलन होता है।

न्याय दर्शन ने सोलह तत्त्व माने है। प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त सिद्धान्त, अवयव, तर्क निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह और स्थान। जब इन सोलह तत्त्वो का परिज्ञान जीव को होता है, तब उसके दुःख और कारणो की परम्परा समाप्त होती है। इस प्रकार दुःख की निवृत्ति और मोक्ष-अपवर्ग की प्राप्ति हेतु ही प्रस्तुत दर्शन का प्रादुर्भाव होता है।

सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन का प्रयोजन भी दुःख निवृत्ति है। इसके मुख्य दो भेद है। एक ईश्वरवादी और दूसरा निरीश्वरवादी। जो ईश्वरवादी है वे सृष्टि की उत्पत्ति ईश्वर से मानते है, और जो निरीश्वरवादी है, वे सृष्टि के निर्माण मे ईश्वर का हस्तक्षेप स्वीकार नही करते। सांख्य दर्शन के विचारानुसार दुःख की तीन राशियाँ है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। शारीरिक और मानसिक ये दुःख आध्यात्मिक कहलाते है तथा राक्षस आदि के आवेश से जो दुःख होते है वे आधिदैविक दुःख है और अन्य स्थावर तथा जंगम आदि प्राणियो से जो दुःख उत्पन्न होते है वे आधिभौतिक दुःख कहलाते है। इन दुःखो का नाश बाह्य साधन व उपायो से नही होता है। किन्तु इनका सर्वनाश ज्ञान से ही होता है। ज्ञान क्या है? इसकी प्राप्ति के

1 क्षणिकाः सर्वसंस्काराः, इत्येवं वासना मता।
स मार्ग इह विज्ञेयो, निरोधो, मोक्ष उच्यते ॥

क्या उपाय हैं ? आदि विचारधारा में ही सांख्य दर्शन की उत्पत्ति हुई है ।

जैन दर्शन

जैन दर्शन का प्रमुख उद्देश्य है, आत्मा दुःख से मुक्त होकर अनन्त सुख की ओर बढे । जीव और पुद्‌गल इन दोनों का सम्बन्ध अनन्त काल से चला आ रहा है । बाह्य पुद्‌गलों के संयोग से ही जीव नाना प्रकार के कष्टों का अनुभव करता है । जब तक जीव और पुद्‌गल का सम्बन्ध विच्छेद नहीं होगा तब तक आध्यात्मिक सुख असम्भव है । जीव और पुद्‌गल दोनों तत्त्व अलग कैसे हो सकते हैं ? उसके सम्बन्ध में आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ-सूत्र में—"सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र"[1] ये तीन मार्ग बतलाये हैं । तीनों के आचरण से ही जीव और पुद्‌गल सर्वथा अलग हो सकते है । एक बार जीव और पुद्‌गल के पृथक् होने पर पुनः उनका कभी सम्बन्ध नहीं होता । वह जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य वाला बन जाता है । इस प्रकार जैन दर्शन का उद्देश्य स्पष्ट झलक रहा है कि प्राणी दुःख से निवृत्त होकर अनन्त सुख में प्रवृत्ति करे ।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के संस्थापक कणाद ऋषि थे । प्रस्तुत दर्शन का उद्देश्य भी निःश्रेयस की प्राप्ति हेतु ही धर्म का प्रादुर्भाव होता है । कणाद ने अपने वैशेषिक सूत्र में लिखा है—धर्म वह पदार्थ है जिससे सांसारिक उत्थान और पारमार्थिक निःश्रेयस दोनों मिलते हैं ।[2]

जैमिनी दर्शन

प्रस्तुत दर्शन के प्रणेता जैमिनी ऋषि हैं । जैमिनी ऋषि के दो शिष्य थे । पूर्व मीमांसक और उत्तर मीमांसक । उनके नाम से ही यह दर्शन, पूर्व मीमांसक और उत्तर मीमांसक के नाम से प्रसिद्ध है । पूर्व मीमांसक यज्ञादि को माननेवाले हैं । इनके दो भेद हैं—प्रभाकर और भाट्ट । उत्तर मीमांसक अद्वैतवादी वेदान्ती हैं । उसके भी अनेक भेद हैं । इस दर्शन ने भी धर्म को

---

1 सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

—तत्त्वार्थ सूत्र । 1-1

2 यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

—वैशेषिक सूत्र । 1-2

ही प्रधानता दी है। मानव, धर्म के द्वारा ही कल्याण का मार्ग जान सकता है। अतः धर्म के स्वरूप को ठीक तरह से समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि धर्म क्या है? उसके साधन क्या हो सकते हैं? तथा उसका अन्तिम प्रयोजन कैसे पूर्ण किया जा सकता है? आदि प्रश्नो की मीमासा (युक्ति-युक्त पूर्ण) का नाम ही दर्शन है। इस प्रकार प्रस्तुत दर्शन का भी वही उद्देश्य प्रतीत होता है, जो अन्य दर्शनो का है।

चार्वाक दर्शन

भारतीय दर्शनो मे चार्वाक एकान्त भौतिकवादी दर्शन है। इस दर्शन की मान्यतानुसार सुख-दुःख इसी लोक तक सीमित है। यह लोक अर्थात् पुनर्जन्म को नही मानता। इस जीवन मे जितना सुख का उपभोग किया जाय उतना ही श्रेयस्कर है। इसके सम्बन्ध मे उनका एक सिद्धान्त-सूत्र प्रसिद्ध है कि ऋण करके भी इन्सान को खूब घी पीना चाहिए। मृत्यु के पश्चात् पुनः जन्म लेना पडेगा, ऐसा कहना सब मिथ्या है। क्योकि शरीर की राख हो जाने पर कोई चीज नही बचती, जो पुनः जन्म धारण कर सके।[1] चार्वाक के मतानुसार ऐहिक सुख की प्राप्ति के लिए ही दार्शनिक विचारधारा का जन्म होता है।

इस प्रकार भारतीय दर्शनो मे चार्वाक दर्शन को छोडकर शेष सभी दर्शन दुःख से मुक्त होकर निःश्रेयस की प्राप्ति मे ही निष्ठा रखते हैं।

---

1 यावत् जीवेत् सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ॥

सात

दर्शन और विज्ञान

आज इस भौतिकतावाद के चकाचौंध मे पलनेवाले व्यक्तियो की आस्था दर्शन के प्रति जितनी नही है, कही उससे अधिक विज्ञान के प्रति है। इसका मूल कारण मानव का आकर्षण सदा बाह्य जगत् की ओर रहता है, आध्यात्मिकता की ओर बहुत कम। दीर्घ-दृष्टि से चिन्तन करने पर यह स्पष्ट है कि दर्शन और विज्ञान का अन्तिम साध्य प्रायः एक है। वे दोनो सत्य के द्वार तक पहुँचने मे पूर्ण सहायक हैं। एक ज्ञानशक्ति द्वारा उन सत्य-तथ्यो तक पहुँचाने का प्रयास करता है तो दूसरा प्रयोग शक्ति के आधार पर। दर्शन चिन्तन प्रधान है, मस्तिष्क की वस्तु है। अतः यह सत्य के सही तथ्य का उद्घाटन स्थूल रूप से जनसमाज के सम्मुख रखने मे सक्षम नही है और यह ज्ञान की वस्तु होने के कारण स्थूल रूप मे रखा भी तो नही जा सकता, किन्तु, विज्ञान का कार्य उन तथ्यो को सही-सही प्रयोग द्वारा स्थूल रूप मे दिखाना है। यह किसी वस्तु को गोपनीय न रखकर दर्पण की भाँति जनसमाज के सम्मुख स्पष्ट रख देना चाहता है। एतदर्थ विज्ञान जन-मानस को जितना अपनी ओर आकर्षित कर सकता है उतना दर्शन नही।

दर्शन आत्मतत्त्व प्रधान है और विज्ञान भौतिक शक्ति प्रधान है। दर्शन आत्मा, परमात्मा पर गम्भीर चिन्तन प्रदान करता है और विज्ञान बाह्य तत्त्वो पर अपने मौलिक विचार अभिव्यक्त करता है। दर्शन विश्व को एक सम्पूर्ण तत्त्व समझकर उसका परिज्ञान कराता है और विज्ञान जगत् के पृथक्-पृथक् पहलुओ का भिन्न-भिन्न दिग्दर्शन कराता है। इस दृष्टि से दर्शन का क्षेत्र विज्ञान से बहुत व्यापक व विस्तृत प्रतीत होता है। दर्शन ज्ञान के अन्तिम तत्त्व तक पहुँचने का प्रयास करता है पर विज्ञान की दौड़ दृश्य जगत् तक ही सीमित है। दर्शन युक्ति और अनुभव को महत्त्व देता है, तो विज्ञान युक्ति को ठुकराकर केवल अनुभव को ही प्रा-

बता देता है। दूसरा विज्ञान और दर्शन मे मुख्य अन्तर यह है कि विज्ञान का निर्णय हमेशा अपूर्ण रहता है जब कि दर्शन अपने विषय का सर्वांगीण स्पष्टीकरण करता है। कारण कि विज्ञान सत्य के एक अंश को ही ग्रहण करता है जिसका आधार दृश्य जगत् ही है।

विज्ञान की बदलती तस्वीरें

विज्ञान एक स्वतन्त्र धारा है। ज्ञात होता है कि इस धारा ने धर्म और दर्शन के विवादास्पद द्वन्द्वो मे अपना एक अलग-थलग मार्ग निकाला है। विज्ञान की दृष्टि मे सत्य वही है, जिस पर प्रयोगशाला की मुद्रा लग चुकी है। यह अन्धविश्वास को प्रश्रय नही देता है। कारण यह है कि तार्किक जगत् मे प्रत्येक विश्वास को तर्क की कसौटी पर कसकर ही मूल्यांकन किया जाता है, आज का मानव अपनी व्यक्तिगत तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का समाधान अपने पूर्वजो की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक ढग से निकालता है।

यह सब कुछ होने पर भी एक बात विचारणीय है कि विज्ञान के निर्णय अब तक स्थिर नही रहे है। इतिहास से यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि विज्ञान के निर्णय किस स्थिति मे किस प्रकार परिवर्तनशील है। एक वैज्ञानिक की सत्य बात दूसरे वैज्ञानिक के युग मे असत्य लगने लगती है। जैसे चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी तथा अन्य ग्रह गणो की गति, स्थिति और स्वरूप आदि के विषय मे 'टोलेमी' के युग की बात 'कोपरनिकस' के युग मे नही रही और 'कोपरनिकस' के नये निर्णयो पर प्रो० आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद ने एक नया रूप लेकर अपना प्रभाव जमा लिया। क्या ऐसी स्थिति मे अधिकार की भाषा मे यह कहा जा सकता है कि प्रो० आइन्स्टाइन के ये निर्णय अन्तिम है? कदापि नही, भले ही जो निर्णय आज सत्य प्रतीत हो रहे हैं वे ही कल भ्रान्ति के रूप मे परिवर्तित हो सकते हैं।

न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त से कौन अपरिचित है। विज्ञान जगत् मे गुरुत्वाकर्षण की धूम मच गई थी। पर आज के इस सापेक्षवाद के युग मे गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त निष्प्रभ हो गया है।

"कहते है, आइन्स्टाइन के अनुसधान का प्रभाव न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण वाले नियम पर भी पडा है। गुरुत्वाकर्षण को लेकर वैज्ञानिको मे कुछ

शंकाएँ चला करती थी। प्रथम शंका यह थी कि गुरुत्वाकर्षण यदि शक्ति है तो उसके संक्रमण करने मे कुछ भी समय क्यो नही लगता, जैसे प्रकाश को लगता है। दूसरी यह है कि कोई भी आवरण गुरुत्वाकर्षण के मार्ग मे अवरोध क्यो नही डालता है। आइन्स्टाइन ने बताया कि गुरुत्वाकर्षण शक्ति नही है। पिण्ड एक दूसरे की ओर इसलिए खिचे दीखते हैं कि हम जिस विश्व मे अवस्थित है वह यूक्लिड के नियमो से परे का विश्व है। विश्व को चार आयामों मे संयुक्त मानने पर प्रत्येक द्रव्य के पास कुछ वक्रता होगी। इसी को हम गुरुत्वाकर्षण समझते आये है। इस प्रकार गुरुत्वाकर्षण को आइन्स्टाइन ने देश और काल का गुण स्वीकार किया है।"[1]

वास्तव मे देखा जाय तो यह उस परिभ्रमणशील वेगवती वस्तु का ही एक विशिष्ट गुण है। इसका आन्तरिक रहस्य न जानने के कारण ही लोग उसे आकर्षण की वस्तु समझकर आश्चर्य प्रकट करते हैं, पर यह सत्य नही है। जो सिद्धान्त एक दिन विश्व मे इतना ऊहापोह कर आया था, आज उसका उफान बिलकुल शांत है। और भी बतलाया जाता है कि—

"एक दिन पदार्थ का अन्तिम अविभाज्य अंश अणु माना जाता था और लोग उसे बिलकुल ठोस समझते थे। फिर जब परमाणु का पता चला तब विज्ञान उसी को ठोस मानने लगा। किन्तु आज परमाणु ठोस नहीं, पोला माना जाता है, जिसके नाभिक (न्यूक्लियस) के चारो ओर इलैक्ट्रोन और प्रोटोन नाच रहे हैं। परमाणु इतने पोले माने जाते है कि वैज्ञानिकों का यह अनुमान है कि यदि एक भरे-पूरे मनुष्य को इस सख्ती से दबा दिया जाय कि उसके अंग का एक भी परमाणु पोला न रहे तो उसकी देह सिमटकर एक ऐसे बिन्दु मे समा जायगी जो आँखों से शायद ही दिखाई पडे।"

वैज्ञानिक जगत् मे हजारो ऐसे उदाहरण भरे पडे है जिनकी एक लम्बी-चौडी सूची तैयार हो सकती है। इन बदलते हुए निर्णयो के कारण ही विज्ञान का सत्य सदा संदिग्ध रहा है। एक बात यह है कि विज्ञान ने जिन बात के लिए कभी सोचा नही, खोज नही की, अथवा जो विज्ञान के वातावरण मे विज्ञान सम्मत नही है उसे वैज्ञानिक असत्य कहकर ठुकरा देते है जो

1. ज्ञानोदय का विज्ञान अंक 2 (1959) नवम्बर, 'न्यूटन से आगे आधुनिक भौतिक विज्ञान के विकास की दिशाएँ'। निबंध, पृ० नं० 9।

यथार्थ नहीं है। कारण कि विज्ञानवेत्ता कोई सर्वज्ञ तो है नहीं, तो फिर इस प्रकार का अहम् दिखलाना अपनी दुर्बलता का प्रदर्शन ही है। 'सौर परिवार'[1] में वैज्ञानिकों का अन्धविश्वास उल्का प्रकरण में उल्कापात की एक घटना मिलती है जिसका सार इस प्रकार है—

आकाश से पत्थर गिरते हैं, कईयों ने अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा भी है पर वैज्ञानिकों ने उसे असत्य ही माना और मानते ही रहे। उसके निर्णयार्थ फ्रांस के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक 'एकेडमी' ने एक कमीशन लूसों में भेजा, वहाँ की सही रिपोर्ट आने पर भी उनका सन्देह ज्यों-का-त्यों बना रहा। अन्त में 1803 में फ्रांस के एक ग्राम पर पत्थरों की खूब बौछार हुई। तब 'एकेडमी' के विश्वास का महल एकदम धराशायी हो गया। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक 'बायो' (Biot) ने भी इस बात की जाँच की और यह सिद्ध कर दिया कि वास्तव में आकाश से पत्थर (उल्कापात के समय गिरने वाला एक विशेष पदार्थ) गिरते हैं। तब से असंभव कहा जाने वाला निर्णय सम्भव हो गया।

आज से कुछ समय पूर्व चन्द्र, सूर्य और मंगल ग्रह की यात्रा संदिग्ध-सी लगती थी, पर आज राकेट व स्पूतनिक युग ने किसी अंश में हमारे सन्देह को हटा दिया है। एक बार भारत के प्रधान मंत्री नेहरूजी ने कहा था कि "हम सोकर उठते हैं तब तक दुनिया हजारों कोस आगे बढ़ जाती है।" इस प्रकार विज्ञान के इतिहास में विज्ञान के बदलते निर्णयों की तस्वीरों का प्रत्यक्षीकरण हमें कई स्थानों पर होता है।

विज्ञान और दर्शन का समन्वय

इतना होने पर भी विज्ञान और दर्शन दोनों में अत्यधिक सन्निकर्ष है। दर्शन मानव मस्तिष्क में उठे हुए प्रश्न का सही समाधान है, तो विज्ञान भी सत्य व यथार्थ को प्रकट करनेवाला है, जो तत्कालीन किसी एक निश्चित सीमा पर जाकर खड़ा रहता है। इसलिए दर्शन और विज्ञान में सम्पूर्ण जीवन की व्यापकता समाहित है।

एक बात अवश्य है कि दर्शन की भाँति विज्ञान में विभिन्न मार्गों का उदय अभी तक नहीं होने पाया है। यह विज्ञान की एक विशेषता है। भार-

---

1 सौर परिवार पृ० 75

तीय सस्कृति मे षड्दर्शनो का सगम देखने को मिलता है। इस प्रकार का विज्ञान के क्षेत्र मे नही। सभी वैज्ञानिक प्राय एक ही मार्ग पर स्थित हैं और जो विभिन्न दिखलाई पडते है, उन्हे भी एक स्थान पर आज नही तो कल आना ही पडेगा। यो दर्शन और विज्ञान का जीवन मे अपना एक स्वतन्त्र महत्त्व है। उसकी पूर्ण उपयोगिता है। दोनो जीवन के लक्ष्य तक पहुँचने के प्रशस्त मार्ग है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य ज्ञात होता है कि दर्शन का प्रमुख झुकाव आत्म तत्त्व की ओर है, इससे मानव को परम तत्त्व की उपलब्धि होती है, जबकि विज्ञान का प्रवाह भौतिक तत्त्व की ओर ही प्रवाहित हुआ है। इससे मानव को नवीनतम भौतिक साधन-प्रसाधन प्राप्त होते है। अन्त मे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विज्ञान और दर्शन मे कुछ अन्तर प्रतीत होने पर भी समन्वय का बल ही अधिक मात्रा मे पाया जाता है।

एक स्वर यह भी है कि दर्शन और विज्ञान मे विभेद ही क्या है? भारतीय विश्लेषकों ने दर्शन शास्त्र द्वारा समस्त वैज्ञानिक रहस्यो को अपने मानसिक श्रम—तर्क द्वारा समुपस्थित कर दिया है, फिर मानव विज्ञान को क्यो अपनाये। दार्शनिक शास्त्र भी सुखान्वेषण वृत्ति को ही प्रोत्साहित करते है, पर विचारणीय प्रश्न यहाँ यह है कि दर्शन का कार्य अतीत की अपेक्षा चाहे कितना ही विस्तृत मान ले, पर वर्तमान विज्ञान की अपेक्षा दार्शनिकों का चिन्तन कुछ अशो तक सीमित ही था। दर्शन और विज्ञान मे कुछ मौलिक भेद है, इसे समझना आवश्यक है। दार्शनिकों ने सृष्टि के विभिन्न तथ्यों का पता लगाया और वैज्ञानिक विश्लेषको ने उन्हे प्रत्यक्ष कर दिखाया। दर्शन का आधार धर्मशास्त्र रहा है, अर्थात् धर्मशास्त्र कथित तथ्यो का प्रस्फुटिकरण दर्शन शास्त्र मे हुआ है। इसलिए कही-कही अन्धविश्वासो को भी दर्शन मे अवकाश मिला है, जब कि विज्ञान किसी भी आश्चर्यजनक घटना को ईश्वरीय सकेत या प्राकृतिक घटना न मान कर उनके कारणो की शोध की ओर बुद्धि को गतिमान करता है। दार्शनिक तो आप्त पुरुषो की बातों को ही अन्तिम सत्य मानता आया है। इसमे शका करना नास्तिकता है। दर्शन क्षेत्र का कार्य ही आज धर्म और अध्यात्म की विविध मान्यताओं पर स्थित है, जबकि विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और मनुष्य को कार्यक्षम बनाने की प्रेरणा देता है। दर्शन चिन्तन प्रधान है और विज्ञान कार्य

प्रधान । दर्शन वस्तु विश्लेषक है तो विज्ञान उसे प्रत्यक्ष कर दिखाने की क्षमता रखता है । दर्शन की अनेक शाखाएँ केवल धर्म और अध्यात्म तक सीमित हैं, पर विज्ञान की शक्ति मानव-जीवन के सम्पूर्ण अंगों को स्पर्श करती है । दर्शन तर्क और अनुमानों पर आधृत है तो विज्ञान प्रत्यक्ष व्यवहार पर । विज्ञान का आधार दर्शन होते हुए भी आधुनिक आविष्कारों ने विज्ञान को ऐसे स्थान पर पहुंचा दिया है कि वह अपने आप में जैसे कोई स्वतन्त्र सर्वशक्तिमान तथ्य हो । इसलिए विज्ञान अधिक बुद्धिगम्य जान पड़ता है ।

आज का युग

आज का युग विज्ञान का है। इसमे केवल मानसिक श्रम या शुष्क चिन्तन का महत्त्व नही, न अपनी बात बलात् किसी से मनवाने का ही है। आज का बुद्धिजीवी प्रत्येक वस्तु को जब तक वैज्ञानिक कसौटी पर नही कसता तब तक उसे मानने को कदापि तैयार नही। विज्ञान की इतनी अधिक शाखा-प्रशाखाएँ है कि उनका सर्वांगीण विवेचन करने बैठे तो कई स्वतन्त्र ग्रथ तैयार हो सकते है। जैसे इतिहास, गणित, भूगोल, खगोल, भूगर्भ, जीव, पदार्थ, कला, कृषि, शिक्षा, मनोविज्ञान, शरीर, काम, पाक, गृह और समाज आदि विज्ञान के ही विस्तृत भेद है। यहाँ तक कि आज तो धर्म और अध्यात्म तक को वैज्ञानिक कसौटी पर कसने की तैयारी हो रही है।

भारत के प्राचीन साहित्य मे, जैसे रामायण और महाभारत मे, कलयुग का उल्लेख है, आज कलयुग है जिसे यत्र युग की सज्ञा दी जा सकती है। युग का अधिकतर कार्य यत्रो द्वारा सम्पन्न होता है। कभी-कभी तो मानव स्वय भी अपने आपको एक यत्र ही मान बैठता है।

विज्ञान का उद्देश्य

यद्यपि उपर्युक्त पक्तियो से स्पष्ट है कि विज्ञान सोद्देश्य और असीमित है। मानव मस्तिष्क की अदम्य जिज्ञासुवृत्ति को वह सन्तुष्ट करता है। प्राकृतिक शक्तियो पर नियत्रण रखने मे सहायता देता है और जीवन रक्षा के उपाय सुझाता है। वैचारिक उलझनो मे कुण्ठित मस्तिष्क को सुलझाता है। इसका परम उद्देश्य भौतिक सुख समृद्धि के साधन जुटाकर मनुष्य को पूर्ण सुखी बनाना है। प्राचीन काल के अवैज्ञानिक तथ्यो पर आधृत धर्म मनुष्य को विद्युत, बादल, सागर, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी आदि तत्त्वो की विस्मयजनक सामर्थ्य से भयभीत एव प्रभावित होकर उनकी स्तुति, पूजा या मनौती करना सिखाता है, जब कि आधुनिक विज्ञान उनकी उपयोगिता

और उन्नति का नव [illegible] जो [illegible] लाने का मार्ग प्रस्तुत करता है। [illegible] विज्ञान ने अन्धविश्वासजन्य सम्पूर्ण मान्यताओं को चुनौती दे रखी है। उदाहरणार्थ माने जाने वाले वैज्ञानिक तथ्यों में वायु और पृथ्वी को आज का वैज्ञानिक [illegible] तत्त्व मानने को तैयार नहीं।

आधुनिक विज्ञान का प्रारम्भ

विज्ञान मानवी चेतना का ही एक विशिष्ट रूप है। अतएव धरातल पर जब से मानव और उसकी चेतना का अस्तित्व है, तब ही से विज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करना होगा। उसका आदि काल निर्धारित करना "ऋषियों के कुल और नदियों के मूल" खोजने के समान होगा। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान का जन्म ईसा के पन्द्रहवीं शती से माना जाना युक्तिसंगत है। जो भी हो, इसमें संदेह नहीं कि विज्ञान के प्रभाव ने मानव समाज की काया पलटने में अनुपम योग दिया है। यद्यपि प्राचीन विज्ञान की गति में मानव समाज को शीघ्र परिवर्तन की क्षमता न थी, साथ ही कई बाधाएँ भी खड़ी कर दी जाती थी। पर विज्ञान के नवीन स्वरूप में, बाधक तत्त्व के अभाव में, समाज को शीघ्र परिवर्तित करने की अद्भुत शक्ति है।

विज्ञान की प्रगति से पूर्व

विज्ञान के समुचित विकास और प्रगति के पूर्व मानव समाज के अधिकांश कार्य और विचार पुरातन धार्मिक सिद्धान्तो द्वारा नियन्त्रित थे। धार्मिक पहलुओं का सभी क्षेत्रो मे प्रभाव था। ज्ञान के समग्र विषयो का धर्मशास्त्रो मे ही अन्तर्भाव था। इतिहास, गणित, भूगोल, खगोल और समाजशास्त्र आदि विषयो का केन्द्र-बिन्दु भी धर्म-शास्त्र ही था। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ धर्म के द्वारा अपनी प्रगति मे कुछ प्रेरणा मिली, वहाँ धर्म मे बढ़ते हुए जड़ विश्वासो के कारण हानि भी कम नहीं हुई। धर्म अत्यन्त पवित्र वस्तु है और अन्तर्जगत् से सम्बद्ध है, पर स्थितिपालको या अत्यन्त पुरातनवादियो की दर्प-वृत्ति के कारण कभी-कभी इस पवित्र वस्तु मे भी स्वार्थवश ऐसा विकार उत्पन्न हो जाता है कि वह प्रेरणा का स्रोत होकर भी स्वयं प्रेरणा का पात्र बन जाता है। तभी निरकुश धार्मिक व्यक्तियो

द्वारा प्रतिपादित धर्म अपनी वास्तविकता खो बैठता है। उनका स्थान रूढ़ि और ज्ञानहीन परम्पराए ले लेती हैं। भारत मे धर्म के नाम पर जातिवाद और मानव-मानव मे भी भेद की कल्पना को, रूढ़ि प्राबल्य के कारण ही, प्रश्रय मिला। परिणामस्वरूप बुद्धिजीवी वर्ग धर्म के प्रति वफादार रहने की भावना से दूर हटता गया। विज्ञान की प्राभातिक किरणो ने धर्म के स्वर्णोदय से नवीन चेतना और सस्कारो को बल दिया।

नौ

अविकसित धर्म और विज्ञान का संघर्ष

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है— वैज्ञानिक जागरण से धर्म के प्रति जड़ विश्वास हिलने लगे। धर्म प्रतिपादकों ने स्थितिपालक वृत्ति के आवेश मे इन वैज्ञानिकों की न केवल निन्दा ही करनी आरम्भ की, अपितु, उन मनीषियों को अकथ्य यातनाएं भी दी जाने लगीं। गैलिलियो को नक्षत्रों की खोज पर कारावास भुगतना पड़ा। कोपरनिकस के 'सूर्य पृथ्वी के चारो तरफ भ्रमण नही करता' कहते ही उसे धर्मद्रोही घोषित किया गया। डार्विन के विकासवाद ने धार्मिक जगत् मे भारी हलचल पैदा कर दी चूंकि तात्कालिक कथित धर्मवेत्ता केवल धर्म शास्त्रो के सिद्धान्तो के अन्धभक्त थे, क्योंकि बाईबिल मे तो मानव को आदम और हव्वा का उत्तराधिकारी बताया गया है। तात्पर्य, बाईबिल या तदनुरूप धर्मशास्त्रो के विरुद्ध समस्त शुद्ध वैज्ञानिक प्रयत्नो की न केवल उपेक्षा ही होने लगी, अपितु गवेषको पर नाना प्रकार के अत्याचार भी होने लगे। पर विजयश्री वैज्ञानिको के साथ ही रही। कालान्तर मे उनकी शोध आदरणीय बन गई। 19वी शताब्दी के समाप्त होते-होते विज्ञान का प्रभाव प्रचुर परिमाण मे बढ चला। सम्प्रदायवाद और जातिवाद इन पर तनिक भी अपना प्रभाव न डाल सके। इसके विपरीत सम्राट्, राजा और अन्य शासक ने वैज्ञानिको को खोज मे सहायता देकर उन्हे प्रोत्साहित करने मे गर्व का अनुभव करने लगे।

प्रसगत यहाँ एक बात का उल्लेख अनिवार्य प्रतीत होता है कि सापेक्षत विज्ञान के प्रति भारतीय दृष्टिकोण सहिष्णुतापूर्ण रहा है। यहाँ प्राचीन और अर्वाचीनो मे मतभेदो की कमी न रहने के बावजूद भी कभी किसी नूतन विचार प्रवर्तक को न फांसी पर लटकाया गया और न उसे अन्य किसी प्रकार की शारीरिक यातनाओं का ही सामना करना पडा है। भारतीय संस्कृति अहिंसा प्रधान होने के कारण समन्वयवादी दृष्टिकोण से ओत-प्रोत है। यहाँ यह भी

विस्मृत न करना चाहिए कि विज्ञान ने कभी भी चरम सत्य-उपलब्धि का आग्रह नही रखा और भविष्य मे शोध के कार्य बन्द नही किये। जिन साधनो के आधार पर जो कालिक सत्य शोध मे उद्‌भूत हुए वे कालान्तर मे अन्य साधन उपलब्ध होने पर बदल भी सकते है। तात्पर्य विज्ञान विकासोन्मुखी तत्त्व है। किसी वस्तु को वह अपरिवर्तित नही मानता।

सुप्रसिद्ध अमेरिकन दार्शनिक और वैज्ञानिक विलियम जेम्स ने ठीक ही कहा है "विज्ञान ने आज तक जिन तथ्यो की गवेषणा की है वे केवल सभावनाएँ है। किसी को पूर्ण एव अन्तिम सत्य नही माना जा सकता। उनमे सशोधन और परिवर्तन का पूर्ण अवकाश है। यह भी सभव है कि कुछ बद्ध-मूल धारणाएँ भ्रात सिद्ध हो जाएँ और उन्हे पूर्ण रूपेण छोडना पडे। जिज्ञासु को नये विचारो का स्वागत करने के लिए सदा उद्यत रहना चाहिए।"

ग्यारह

धर्म का स्वरूप

भारतवर्ष में धर्म

बहुत प्राचीन काल से भारत की ख्याति एक धर्मप्रधान देश के रूप मे रही है। यहाँ की सस्कृति और सभ्यता का पल्लवन धर्म के ही मूल्यवान सिद्धान्तो के आधार पर हुआ है। ऋषि-मुनि व तत्त्व समीक्षको ने तपोवन मे रहकर त्यागमूलक जीवन व्यतीत करते हुए जो अनुभूतियाँ प्राप्त की, उनका व्यक्तिकरण भी अधिकतर धर्म के माध्यम से हुआ है। धर्म का सम्बन्ध भले ही आत्मस्थ हो पर वह एक सामाजिक वस्तु है। समाज इतिहासबद्ध सस्था है जो स्वय अपने-आपमे एक विज्ञान है, अत समाज की अन्तरात्मा का यथोचित पोषण यदि धर्म द्वारा होता है तो बाहरी आवश्यकताओ की पूर्ति विज्ञान द्वारा होती है, अत धर्म और विज्ञान को समीक्षात्मक दृष्टि से भिन्न मानने मे बुद्धिमत्ता नही है। धर्म जीवन का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण अग है, जहाँ मानव कुछ क्षणो के लिए अपने-आपको सासारिक यत्रणाओ से मुक्त पाता हुआ आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करता है। वह लौकिक जीवन मे रहकर भी धर्म द्वारा आन्तरिक चित्तवृत्ति मे लीन रहने के कारण लोकोत्तर या अनिर्वचनीय सुख का बोध करता है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की सुख-शान्ति और समृद्धि धर्म के समुचित विकास पर अवलम्बित है। अन्तर्जगत् से सम्बद्ध रहने के बावजूद भी उसका वास्तविक स्वरूप व्यावहारिक है और वह बाह्य क्रियाओ द्वारा ही जाना जाता है। इसे आचार की सज्ञा दी जाती है। आचार परम्परा के कारण ही इसे इतिहास-सम्बद्ध मानना पडता है। कारण कि ससार मे चाहे कोई भी वस्तु कितनी भी आन्तरिक हो पर व्यवहार द्वारा ही अनुभूत होने के कारण वह आचारमूलक होती है और सामयिक प्रवाह के अनुसार उसकी आत्मा के अपरिवर्तनीय रहने पर भी आचारो मे समय के अनुसार परिवर्तन करना

पड़ता है या स्वयं हो जाता है। धर्म के आचारमूलक विकास को देखते हुए कहना पड़ता है कि समय-समय पर एक ही धर्म ने बाह्य स्थिति में बहुत-कुछ परिवर्तन इसलिए किया कि उसे जीवित रहना था। सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर अधिकांशतः पनपने वाले तत्त्वों में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। परिवर्तन ही इसकी संजीवनी शक्ति है। जब हम ऋतु के अनुसार वस्त्र परिवर्तन कर मूल रूप में अपनी देह का रक्षण कर सकते हैं तो व्यापक रूप से परिवर्तित परिस्थितियों में भी बाह्य व्यवहार में परिवर्तन कर अपनी मूल वस्तु की रक्षा कर सकते हैं। यह परिवर्तन जीवनशक्ति ही प्रदान नहीं करता किन्तु विचारों में भी क्रान्ति समुत्पन्न करता है।

धर्म की परिभाषा

अत्यधिक आत्मिक वस्तु को परिभाषा में बाँधना बड़ा कठिन हो जाता है, क्योंकि अधिक चर्चनीय वस्तु का जब जीवन से सम्बन्ध क्षीण होने लगता है तब मनुष्य उसे व्याख्या द्वारा स्थायित्व देने की चेष्टा करता है। धर्म की लगभग यही स्थिति है, क्योंकि धर्म की चर्चा शब्दतः तो बहुत होती है, पर जीवन से गहरा सम्बन्ध अल्प ही रहता है। इस प्रकार के वाणीविलास का व्यापक प्रभाव यहाँ तक प्रसरित है कि अनपढ़ या धर्म के सम्बन्ध में अत्यल्प ज्ञान रखने वाला भी ब्रह्म, मोक्ष और अनेकान्तवाद की चर्चा करते नहीं अघाता। ईमानदारी के साथ यदि देखा जाय तो धर्म केवल वाणी तक ही सीमित रहने वाला तत्त्व नहीं, अपितु उसके सिद्धान्त दैनिक जीवन में ओत-प्रोत रहने चाहिये। धर्म के मर्म तक बहुत कम लोग पहुँच पाते हैं। जिनकी पहुँच है उनकी वाणी मौन रहती है।

भारत में सचमुच धर्म की बहुलता है। व्याख्याकार भी अनेक हैं। कोई दर्शन के द्वारा धर्म को समझाने की चेष्टा करता है, तो कोई केवल आचार द्वारा ही उसकी व्याख्या करने में प्रयत्नशील है। अतः धर्म की भारत में प्रचुर व्याख्याएँ व परिभाषाएँ मिलती हैं। जैनदर्शन के उद्भट विद्वान प्रज्ञाचक्षु पं० श्री सुखलालजी संघवी ने अपने 'दर्शन और चिन्तन' नामक ग्रंथ में लार्ड मार्ले के मतानुसार यह बताया है कि "धर्म की लगभग दस हजार व्याख्याएँ हो चुकी हैं फिर भी उनमें सभी धर्मों का समावेश नहीं होता। आखिर बौद्ध, जैन आदि धर्म इन व्याख्याओं से बाहर ही रह जाते हैं।"

व्याख्याकार मात्र सम्प्रदाय या अपने धर्म तक ही सीमित रहता है। किसी भी प्रकार के व्यामोह या पूर्वाग्रह से प्रभावित व्यक्ति से व्यापक या सर्वजन-गम्य व्याख्या की आशा नही की जा सकती है।

धर्म शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—"धारणात् धर्म" जो धारण किया जाय वही धर्म है। धर्म शब्द धृ धातु से निष्पन्न हुआ है जिसमे 'मय' प्रत्यय जोडने से धर्म शब्द बनता है, जिसका तात्पर्य है धारण करने वाला। पर वह क्या धारण करता है ? यह एक प्रश्न है। जहा तक धारण करने का प्रश्न है समस्त धर्म और सम्प्रदाय इससे सहमत है पर जो धारण कराया जाता है मत-भिन्नता वही है। क्योकि प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय के सदस्य अपने अनुकूल तथ्यो को ही धारण करते है और वह ही आगे चलकर उनकी दृष्टि मे धर्म बन जाता है।

जैन दर्शन बहुत ही व्यापक और व्यक्तिस्वातन्त्र्यमूलक दर्शन के रूप मे बहुत प्राचीन काल से प्रतिष्ठित रहा है। प्राणी-मात्र का सर्वोदय ही इस दर्शन का काम्य है। वह मानव-मानव मे उच्चत्व, नीचत्व की कल्पना का विरोधी है। वह प्राणीमात्र के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। वह इतनी क्रांतिकारी घोषणा करता है कि अपने उत्थान-पतन मे किसी को साधक-बाधक नही मानता, वह अपने विकास के लिए ईश्वर तक की परा-धीनता मे तनिक भी विश्वास नही रखता। उत्थान-पतन का दायित्व व्यक्ति के पुरुषार्थ पर अवलम्बित मानता है। वरदान या अभिशाप जैसी कोई वस्तु जैन दर्शन मे नही पनपी। अवतारवाद को भी वह अस्वीकार करता है। वह मनुष्य को इतना विकसित प्राणी मानता है कि उसे परमात्मा तक होने का अधिकार प्राप्त है। परमात्मा मे और मानव मे केवल इतना ही अन्तर है कि परमात्मा ने प्रकाश का पूर्णत्व प्राप्त कर लिया है, और मानव अपने मे स्थित प्रकाश को आवरण द्वारा ढके रखने के कारण ही मानव बना हुआ है। यदि मनुष्य चाहे तो विशिष्ट आध्यात्मिक पुरुषार्थ द्वारा अनावृत्त होकर परमात्म पद प्राप्त कर सकता है।

जहाँ त्यागमूलक जीवन-यापन करने वाले मनीषियो द्वारा धर्म जैसे पवित्र तत्त्व की व्याख्या प्रस्तुत की जाय वहाँ स्वभावत सर्वजनोपयोगी व्यापक दृष्टिकोण रहे यह स्वाभाविक है। आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म की

बहुत सुन्दर, संक्षिप्त और सारगर्भित व्याख्या करते हुए "वत्थु सहावो धम्मो" वस्तु के स्वभाव को ही धर्म कहा है। प्रत्येक पदार्थ या वस्तु का अपना निज स्वभाव होता है और वह स्वभाव ही उसका मूल धर्म है। उदाहरणार्थ शीतलत्व जल का मूल धर्म है, अग्नि का उष्णत्व। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मभाव में रहना आत्मा का मूल धर्म है। पुद्गलों के विकारों में रमण करना अधर्म है। अर्थात् सांसारिक वृत्तियों में लीन रहकर केवल विलास और वैभव को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानकर जीवन व्यतीत करना तात्त्विक दृष्टि से अधर्म ही है। परिग्रह मात्र का पोषण धर्म की कोटि में नहीं आता, क्योंकि इसमें हिंसा वृत्ति प्रोत्साहित होती है।

परवर्ती जैनाचार्यों ने समसामयिक परिस्थिति के अनुसार धर्म की प्रशस्त व्याख्याएँ एवं उसे जीवन के दैनिक क्रम में किस प्रकार आचार में लाया जा सकता है? समाज और नीति से इसका क्या सम्बन्ध है आदि अनेक विषयों का सारगर्भित विवेचन कर धर्म को अधिक लोक भोग्य बनाने का अनुकरणीय प्रयास किया है। परवर्ती आचार्यों की व्याख्याएँ मौलिक रूप में उपर्युक्त सूचित सिद्धान्त का ही अनुगमन करती हैं।

धर्म का प्रादुर्भाव

धर्म समाज का एक अत्यावश्यक अंग रहा है। इसकी उत्पत्ति का आदिकाल ऐतिहासिक दृष्टि से अज्ञात है। समाज विज्ञान की दृष्टि से जब से मानव का अस्तित्व है तभी से धर्म का भी अस्तित्व स्वीकार करना होगा। संसार के किसी भी कोने में शिक्षित या अशिक्षित मानव का सम्भवतः कोई भी वर्ग ऐसा न होगा जिसका अपना कोई धर्म न हो। धर्महीन समाज के जीवन में सन्तुलन नहीं रह सकता, चाहे वह विचारमूलक हो या आचारमूलक। यद्यपि यह स्थान धर्म की ऐतिहासिक समीक्षा का नहीं है, न क्रमिक विकास के प्रत्येक चरण पर गम्भीर विचार करने का ही है, यहाँ तो केवल प्रासंगिक संकेत से ही सन्तोष करना होगा, क्योंकि धर्म एक श्रद्धा प्राण तत्त्व है। अतः जब इस पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाता है तो श्रद्धा को स्वभावतः चोट पहुँचती है। नई विचार-धारा जब समाज में आती है तब पुरातन रूढ़िवादी और विचार परम्परानुगामी उसे पाखण्ड और नास्तिक समझने लगते हैं। श्रद्धा से तात्पर्य केवल इतना है "विशेष प्रकार के विचारों के सत्य से

[illegible] ही न होने से श्रद्धा का गर्व रह गया है।" इसमें ज्ञान का उपयोग कम किया गया है और जो कुछ कहा जा रहा है उसी का अति भीतकर समर्थन किया गया है—चाहे वह परम्परा उन्नत हो या अनुन्नत। सामान्य भाषा में श्रद्धा को तर्क और बुद्धिवाद की प्रतियोगिनी माना जाता है, जिसका कारण मनोविज्ञान विषयक अज्ञान है। श्रद्धा और विचार में स्वभावतः ही विरोध होता है। पुराने श्रद्धानिष्ठ विचार नूतन विचार या जांच से हिलने लगते है। उन्हें नये विचार और मूल्यो मे पाखण्ड या नास्तिकता दिखलाई पडती है। धर्म की समीक्षा या आदिकालीन गवेषणा विषयक विचारो का भी वे पाखण्ड मे ही अन्तर्भाव करते है। ईमानदारी से देखा जाय तो सामाजिक क्रान्ति की लहर तभी दौड सकती है और इसे नवजागरण के द्वार पर तभी खडा किया जा सकता है जब पाखण्ड कहलाने वाले विचार जन्म लेते है। अत यदि श्रद्धाजीवी को धर्म के आदिकाल पर व्यक्त विचार भी अग्राह्य प्रतीत हो तो क्या आश्चर्य ! यह तो युग ही बुद्धिजीवी है।

प्रखर बौद्धिकता की आंच के सम्मुख पुरानी रूढियाँ और विचार पिघलने लगते है। तभी तो दर्शन आविष्कृत हुआ जिसका कार्य ही धर्मों की समीक्षा करना था। जैन और बौद्ध धर्म के बहुत से विचार इसी विचार क्रान्ति की परिणति है।

प्रत्येक धर्म का अनुयायी अपने द्वारा आचरित प्रणाली को ही धर्म का आदि रूप बताता है और अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण दूसरो के सिद्धान्तो को गलत बताता है। यह कोई ऐतिहासिक समीक्षा नही है, पर साम्प्रदायिक व्यामोह है। कोई भी धर्म असत्य पर टिक नही सकता। सच्चाई से प्राय सभी वेष्टित है। जिसे अपनी साधना मे जितने अश तक सफलता प्राप्त हुई उसी अनुभूति को उसने अभिव्यक्त किया है। ऐसे मानव कृत प्रयत्नो को सत्य की चरम सीमा मानना क्या उचित होगा ?

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि मे धर्मोदय और उसकी समीक्षा पर विचार करे तो यह स्वीकार करना ही होगा कि धर्म-समीक्षा का उदय भारतवर्ष मे ही हुआ।

धर्मोत्पत्ति विषयक जैन मान्यतानुसार कहा जा सकता है कि मानव-समाज मे सुख और शान्ति कायम रखने के लिए भगवान् ऋषभदेव ने धर्म

का सूत्रपात किया। इसका मुख्य पहलू आध्यात्मिक था। ऐहिक पहलू भी सर्वथा अनुप्रेक्षणीय न था। मानव के समष्टिगत प्राणी होने के कारण उसके प्रत्येक व्यवहार का प्रभाव समाज पर पड़ता है और सामाजिक सुख-समृद्धि का विकास बिना भौतिक विकास के असम्भव है। ऋषभदेव इतने दीर्घदर्शी थे कि उन्होंने आत्म-कल्याण के साथ विश्व-व्यवस्था पर भी पूर्णत ध्यान दिया। उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म परम्परा का समर्थन सभी तीर्थंकर और उनके अनुगामियों ने किया।

समय-समय पर धर्म की उत्पत्ति और स्थिति के सम्बन्ध में अनेक व्याख्याएँ बनती गईं। व्यास, कणाद और गौतम तथा अठारहवीं सदी के बाद पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भी धर्म की अनेकविध भौतिक और आध्यात्मिक व्याख्याएँ होती रहीं। पौर्वात्य विद्वज्जन कृत परिभाषा आध्यात्मिक तत्त्व का अनुगमन करती है तो पाश्चात्य का दृष्टि बिन्दु भौतिक रहा है और वे अनैतिहासिक व्याख्याता थे। भारत का चार्वाक सम्प्रदाय भी भौतिक व्याख्याता था।

पश्चिम के पंडितों में से फायर, वाल्स, हेगल, काण्ट, श्लैरमाकर, जेम्स और जॉन ह्यूम आदि ने धर्मोत्पत्ति विषयक जो मन्तव्य दिये हैं वे भौतिक-वाद पर आधृत हैं। उनका मानना है कि धर्म की प्राप्ति मानव को अलौकिक दिव्य विभूति से नहीं हुई। मानव ने अपनी स्वाभाविक भावना और आकांक्षा द्वारा उसका निर्माण किया, जिसमें बौद्धिक योग विशेष था। वे यह भी मानते हैं कि धर्म के अलौकिक और दिव्य स्वरूप का वस्तु-स्थिति के विपर्यास से निर्माण हुआ है। भोले मन का यह काव्यमय पागलपन है। सत्य नियमों के अज्ञान से उत्पन्न भ्रम है इत्यादि आदि। पर वे इतना तो स्वीकार करते हैं कि 'धर्म ने मानव जीवन को उदात्त बनाने का प्रयत्न अवश्य किया है'।

धर्म की आवश्यकता

भारतीय संस्कृति और धर्म के आन्तरिक रहस्य से अपरिचित आज के अतिशिक्षित या भौतिक जीवन में एकान्त आस्थावान् व्यक्ति बुद्धिवाद के आधार पर यह तर्क उपस्थित करते हैं कि जिस धर्म से भारत में भारी रक्तपात हुआ, साम्प्रदायिक भावनाओं को प्रश्रय मिला, मानव में जातिवाद और कर्म-काण्डों को लेकर वैषम्य विकसित हुआ ऐसे धर्म की आज के

वैज्ञानिक युग में [illegible] हो गया है ? [illegible] पूर्ण विचार धारा से [illegible] है। [illegible] ही [illegible] पर इतना [illegible] नहीं किया जा सकता कि जो धर्म [illegible] को लिए हुए है वहाँ [illegible] भी [illegible] प्रभावित हो जाता है। विकार और वासना [illegible] हो जाए तो फिर [illegible] को अवकाश ही कहाँ मिलता है। [illegible] है कि धर्म के नाम [illegible] तब खड़ी होती है जब इस धार्मिक और परम [illegible] के साथ ही अपने-अपने सम्प्रदाय को संयुक्त कर देते हैं और [illegible] वृत्ति के प्रोत्साहन से ही धर्म अपयश का भागी बनता है। वास्तविक धर्म समत्व का ही प्रतिपादक है, भेद का नहीं। व्यवहार में आचरित नियमों में भले ही भिन्नत्व हो। मौलिक तथ्य तो त्रिकालाबाधित है। धर्म के मर्म को आत्मसात् न करने के कारण ही समाज में अशांति फैलती है। मैं पूर्ण आस्था और विश्वास के साथ कहना चाहूंगा कि आज के बौद्धिक युग में वास्तविक जीवन के संतुलन को बनाये रखने के लिए परमार्थ वृत्ति या धर्म का होना नितान्त आवश्यक है। अनैतिकता द्वारा आज जो राष्ट्रीय चरित्र का दिनानुदिन ह्रास हो रहा है, इसका एक मात्र कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव ही है। बालक के मन में प्राथमिक शिक्षा के साथ ही नैतिकता और धर्म के संस्कार डाल दिये जाएँ तो कोई कारण नहीं कि राष्ट्रीय चरित्र का धरातल गिरता रहे।

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक वृत्ति का पोषण न हो, जो राष्ट्रीय विकास की सबसे बड़ी बाधा है। साम्प्रदायिक भावना ने ही धर्म को बदनाम कर रखा है। धर्म समत्व का अमर संदेश देता है। तात्पर्य यह कि धर्म सभी परिस्थितियों में अतीव आवश्यक है बशर्ते कि उस पर साम्प्रदायिकता का आवरण न हो।

धार्मिक शिक्षा

भारतवर्ष अतीतकाल में अध्यात्म-विद्याओं का केन्द्रस्थल रहा है। जहाँ पाश्चात्य वैचारिकों ने अपनी शक्ति का प्रयोग अणु-परमाणु के अन्वेषणा में किया वहाँ भारत के तत्त्वचिंतक मनीषियों ने आध्यात्मिक तत्त्व की खोज में। इसका अर्थ यह नहीं कि भारतवर्ष भौतिक कला और विद्याओं

से शून्य ही रहा। किन्तु यहाँ पर भौतिक और आध्यात्मिक दोनों कलाओं का सुन्दर संगम रहा है जिसका आज इतिहास के पृष्ठों पर स्पष्ट अंकित है। तक्षशिला और नालंदा विश्वविद्यालयों की प्रख्याति दूर-दूर के प्रांतों और देशों में फैली हुई थी। उन विद्यालयों की प्रयोगशाला में अपना सांस्कृतिक जीवन ढालने के लिए बड़े-बड़े पहाड़ों और सरिताओं को ही नहीं किन्तु विशाल समुद्रों को भी लाँघकर विद्याप्रेमी विद्यार्थी समुपस्थित होते थे। वहाँ उन्हें न्यायदर्शन, सांख्यदर्शन, गणित, ज्योतिषशास्त्र, नीतिशास्त्र और आध्यात्मिक फिलॉसफी का अध्ययन कराया जाता था। एक कुलपति के सान्निध्य में सैकड़ों अध्यापक और हजारों विद्यार्थियों का समूह रहता था। इससे स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा में भौतिक विज्ञान की अल्पता नहीं थी। पर उन सबका प्रयोग आत्मस्वरूप के विकास में ही किया जाता था। वहाँ हेय, ज्ञेय और उपादेय का पूर्ण विवेक होता था। उन गुरुकुलों में वे कलाएँ और विद्याएँ सिखलाई जाती थीं जो बौद्धिक विकास के साथ ही अन्तश्चेतना में भी ज्ञान का सर्चलाइट जगमगा सके और सांस्कृतिक जीवन का निर्माण कर सके। जो विद्या मानव को विलासिता के पंकज में गिरा दे और परतन्त्रता की जंजीरों में आवेष्टित कर दे, उसका भारतीय दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था। महर्षि मनु ने विद्या की सार्थकता बतलाते हुए क्या ही सुंदर कहा है—

"सा विद्या या विमुक्तये"

विद्या वही है जो व्यक्ति को संसार के बन्धनों से मुक्त कर मोक्ष की दिशा में प्रेरित करती हो।

उक्त दृष्टि से जब हम चिन्तन करते हैं तो पाते हैं कि भारतवर्ष शैक्षणिक और आध्यात्मिकवाद में अत्यन्त समुन्नत था। पर वर्तमान शिक्षा पद्धति को देखते हुए आध्यात्मिक विकास का नारा पुरातन युग की बीती बात-सा हो गया है। आज आध्यात्मिक शिक्षा के कोनों पर भौतिक शिक्षा ने अपना सुदृढ़ झंडा गाड़ दिया है। यदि आज के विद्यार्थी से यह प्रश्न किया जाय कि डार्विन का विकासवाद और कार्लमार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा साम्यवाद क्या है? तो सम्भव है वह उन विषयों पर घंटों तक अविरत भाषा में भाषण कर सके किन्तु उससे यह पूछा जाय कि भगवान् महावीर

वैज्ञानिक युग मे आवश्यकता ही क्या है ? इस अतिरेकपूर्ण विचार धारा मे कितना तथ्य है। यह बताने की शायद ही आवश्यकता रहती हो, पर इतना कहने का लोभ सवरण नही किया जा सकता कि जो धर्म वास्तविकता को लिए हुए है वहाँ तो भयकर वैषम्य मे भी साम्य प्रस्थापित हो जाता है। विकार और वासना का जहाँ क्षय हो जाय तो फिर विसवाद को अवकाश ही कहाँ मिलता है। सच बात तो यह है कि धर्म के नाम आपत्तियाँ तब खडी होती है जब इस आत्मिक और परम निर्मल वस्तु के साथ ही अपने-अपने सम्प्रदाय को सयुक्त कर देते है और तब असहिष्णु वृत्ति के प्रोत्साहन मे ही धर्म अपयश का भागी बनता है। आतरिक धर्म एकत्व का ही प्रतिपादक है, भेद का नही। व्यवहार मे आचरित नियमो मे भले ही भिन्नत्व हो। मौलिक तथ्य तो त्रिकालाबाधित है। धर्म के मर्म को आत्मसात् न करने के कारण ही समाज मे अशाति फैलती है। मैं पूर्ण आस्था और विश्वास के साथ कहना चाहूँगा कि आज के बौद्धिक युग मे वास्तविक जीवन के सतुलन को बनाये रखने के लिए परमार्थ वृत्ति या धर्म का होना नितान्त आवश्यक है। अनैतिकता द्वारा आज जो राष्ट्रीय चरित्र का दिनानुदिन ह्रास हो रहा है, इसका एक मात्र कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव ही है। बालक के मन मे प्राथमिक शिक्षा के साथ ही नैतिकता और धर्म के सस्कार डाल दिये जाएँ तो कोई कारण नही कि राष्ट्रीय चरित्र का धरातल गिरता रहे।

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक वृत्ति का पोषण न हो, जो राष्ट्रीय विकास की सबसे बडी बाधा है। साम्प्रदायिक भावना ने ही धर्म को बदनाम कर रखा है। धर्म समत्व का अमर सदेश देता है। तात्पर्य यह कि धर्म सभी परिस्थितियो मे अतीव आवश्यक है बशर्ते कि उस पर साम्प्रदायिकता का आवरण न हो।

धार्मिक शिक्षा

भारतवर्ष अतीतकाल मे अध्यात्म-विद्याओ का केन्द्रस्थल रहा है। जहाँ पाश्चात्य वैज्ञानिको ने अपनी शक्ति का प्रयोग अणु-परमाणु के अन्वेषणा मे किया वहाँ भारत के तत्त्वचितक मनीषियो ने आध्यात्मिक तत्त्व की खोज मे। इसका अर्थ यह नही कि भारतवर्ष भौतिक कला और विद्याओ

से शून्य ही रहा। किन्तु यहाँ पर भौतिक और आध्यात्मिक दोनों कलाओं का सुन्दर संगम रहा है जिसका अंकन इतिहास के पृष्ठों पर स्पष्ट अंकित है। तक्षशिला और नालन्दा विश्वविद्यालयों की प्रख्याति दूर-दूर के प्रान्तों और देशों में फैली हुई थी। उन विद्यालयों की प्रयोगशाला में अपना सांस्कृतिक जीवन ढालने के लिए बड़े-बड़े पहाड़ों और सरिताओं को ही नहीं किन्तु विशाल समुद्रों को भी लांघकर विद्याप्रेमी विद्यार्थी समुपस्थित होते थे। वहाँ उन्हें न्यायदर्शन, सांख्यदर्शन, गणित, ज्योतिषशास्त्र, नीतिशास्त्र और आध्यात्मिक विज्ञानों का अध्ययन कराया जाता था। एक कुलपति के सान्निध्य में सैकड़ों अध्यापक और हजारों विद्यार्थियों का समूह रहता था। इससे स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा में भौतिक विज्ञान की उपेक्षा नहीं थी। पर उन सबका प्रयोग आत्मतत्त्व के विकास में ही किया जाता था। वहाँ हेय, ज्ञेय और उपादेय का पूर्ण विवेक होता था। उन गुरुकुलों में वे कलाएँ और विद्याएँ सिखलाई जाती थीं जो बौद्धिक विकास के साथ ही अन्तश्चेतना में भी ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट जगमगा सके और सांस्कृतिक जीवन का निर्माण कर सके। जो शिक्षा मानव को विलासिता के पंक में गिरा दे और परतन्त्रता की जंजीरों में आवेष्टित कर दे, उसका भारतीय दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था। महर्षि मनु ने विद्या की सार्थकता बतलाते हुए बड़ा ही सुन्दर कहा है—

"सा विद्या या विमुक्तये"

विद्या वही है जो व्यक्ति को संसार के बन्धनों से मुक्त कर मोक्ष की दिशा में प्रेरित करती हो।

इस दृष्टि से जब हम चिन्तन करते हैं तो पाते हैं कि भारतवर्ष भौतिक और आध्यात्मिकवाद में पूर्ण सन्तुलित था। पर वर्तमान शिक्षा पद्धति को देखते हुए आध्यात्मिक विकास का मार्ग पूर्णतया [illegible] सा हो गया है। आज आध्यात्मिक शिक्षा के कोने पर भौतिक शिक्षा ने अपना मजबूत अड्डा जमा दिया है। यदि आज के विद्यार्थी से यह प्रश्न किया जाय कि जड़वाद का विकासवाद और मार्क्सवाद का [illegible] भौतिकवाद क्या साम्यवाद क्या है? तो सम्भव है वह इन विषयों पर धाराप्रवाह [illegible] भाषा में भाषण कर सके किन्तु उससे यह पूछा जाय कि आत्मा [illegible]

का स्याद्वाद क्या है ? आचार्य शकर का अद्वैतवाद क्या है ? मुक्ति का पथ क्या है ? तो वह मौन ही रहेगा। इसका कारण यह है कि आज का विद्यार्थी अध्यात्मवाद से नितान्त अनभिज्ञ है। वह अध्यात्मवाद से कोसो दूर जा पडा है। इसी का परिणाम है कि दिनानुदिन मानव नास्तिकता की ओर मुस्तैदी से अपने कदम वढा रहा है।

यदि इस वढते हुए भोगवाद के वैज्ञानिक युग मे अर्थनीति और राजनीति के साथ धार्मिक शिक्षण का प्रसार किया जाय तो निश्चय ही भारतवर्ष पुन अध्यात्मवाद के गुरुपद के गौरव से गौरवान्वित हो सकता है।

एक पादरी के शब्द कितने विचार करने योग्य है "भारत कैसा आध्यात्मिक देश है ? जहाँ छात्रो को धार्मिक ज्ञान नही है और न वैसी कोई व्यवस्था ही है।" पादरी के उक्त व्यग्यात्मक सकेत पर अधिकृत अधिकारियो को चिन्तन करना अतीव आवश्यक है। महात्मा गाधी भी कहा करते थे कि "भारत की आध्यात्मिकता को जीवित रखना है तो वच्चो को धार्मिक शिक्षा देनी होगी।"

धार्मिक भावना ने ही राष्ट्रीय एकता को वनाए रखा है। "अमृतस्य पुत्र" की भावना को प्रचारित करने के लिए और जन-जन के मन मे इसे लाने के लिए जरूरी है कि धार्मिक और नैतिकता की शिक्षा दी जाय।

आज की भौतिक प्रभा मे प्रभावित कुछ व्यक्ति कहा करते है कि इस वैज्ञानिक युग मे धर्म का कोई स्थान नही है, अत धार्मिक शिक्षा की कोई आवश्यकता नही है। किन्तु वे यह भूल जाते है कि "नैतिकता के लिए धार्मिक शिक्षा अनिवार्य है। सत्य के ज्ञान के लिए ईश्वरीय ज्ञान जरूरी है। धार्मिक शिक्षा आत्मनियत्रण का पाठ सिखाती है। जो वडा से वडा कानून भी नही सिखला सकता।"

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद कहते है कि "विज्ञान द्वारा प्रदत्त भौतिक उन्नति और मानवीय मूल्यो पर स्थापित नैतिक उन्नति ये दोनो साथ-साथ चलनी चाहिए। केवल अभ्युदय या केवल नि श्रेयस् पर वल देना एकागी है। दोनो पर समान रूप से वल देना ही सच्ची शिक्षा है और मानव का कल्याण है।"

आज के वालक कल राष्ट्र की सपत्ति वनेंगे, इसमे कोई सन्देह नही। पर इसके लिए उन्हे न्यायपुरस्सर और उचित शिक्षा देना अनिवार्य है। डॉ०

राजेन्द्रप्रसाद के ही शब्दों में "बच्चों पर ही भविष्य निर्भर है और वे ही हमारी आशा हैं। इसलिए उनकी शिक्षा राष्ट्र के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्तव्यों में है।"

वस्तुतः आज युवक और युवतियों में नैतिकता के ह्रास का कारण उनमें उचित धार्मिक शिक्षा का अभाव है। कानून बनाने से यह सर्वनाश नहीं रुक सकेगा। मानवमात्र के कल्याण की भावना धर्म से ही पैदा होगी। धार्मिक शिक्षा जीवनोत्थान के लिए ही नहीं अपितु देश व राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिए भी अनिवार्य है।

आज वर्तमान और भावी विद्यार्थियों के प्रति राष्ट्र के कोटि-कोटि नेत्र आशा के लिए ताक रहे हैं। उन्हें एक दिन समस्त मानव जाति के लिए कल्याण एवं मंगल का अभिनव द्वार खोलना है और यह भौतिक शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा से ही सम्भावित हो सकेगा।

धर्म और विज्ञान

"आश्चर्य पूर्ण विश्व सबसे सुन्दर है। ऐसा अनुभव होता है। सच्ची कला का और विज्ञान का वही उद्गम स्थान है। जिसके मन मे इस भावना का उदय नही होता, जिसे चमत्कार और विस्मय मालूम नही होता, कहना चाहिए कि उसके नेत्र हमेशा के लिए फूट गये, वह मर गया। इस दृष्टि से केवल मैं धार्मिक हूँ।"

—*आइन्स्टाइन*

धर्म आत्म सम्बद्ध होते हुए भी समाजमूलक वस्तु के रूप मे शताब्दियो से जन जीवन मे प्रतिष्ठित रहा है। विज्ञान का भौतिक जगत् से सम्बद्ध होते हुए भी धर्म के क्षेत्र मे इसका प्रभाव रहा है। धर्म की वास्तविक अभिव्यक्ति आचारमूलक परम्पराओ मे निहित है जो समाज की नैतिक सम्पत्ति है। उच्चतम आचार और विचारो द्वारा वासना क्षय ही धर्म का एक सोपान है। आचार विषयक परिस्थितियाँ परिवर्तित होती रहती है—उसका मुख्य कारण विज्ञान है। विज्ञान ने धर्म के वाह्य स्वरूप के अन्वेषण मे जो क्रांतिकारी रूप दिया है—वह मानव शास्त्र और समाज शास्त्र की दृष्टि से अनुपम है। पुरातन काल मे, वर्तमान अर्थ मे प्रयुक्त विज्ञान शब्द सार्थक न रहा हो, पर जहाँ तक इसकी भावमूलक परम्परा का प्रश्न है, इसका नैकट्य स्पष्ट है। समाजमूलक क्रांतियो का जो धर्म पर प्रभाव पड़ा है और जो अपेक्षित संशोधन भी करने पड़े है यह सब कुछ विज्ञान की ही मौलिक देन है, क्योंकि विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन यापन करने वालो का अस्तित्व भी भौतिक जगत् पर ही निर्भर रहता आया है अत समाज मे बद्ध वैज्ञानिक प्रयोगो को भी धर्म द्वारा समर्थन मिला है। जब हम ज्ञान की विशेष स्थिति को विज्ञान के रूप मे अंगीकार करते है तो स्वत स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान भी आत्मा का एक मौलिक गुण है। उपनिषदो मे 'एक से अनेक की ओर

प्रेरित करने वाली शक्ति को विज्ञान कहा गया है। पौर्वात्य विज्ञान की परम्परा की जड़ें धर्म के आदिकाल तक बिखरी हुई हैं। हाँ, कुछ काल ऐसा अवश्य व्यतीत हुआ कि विज्ञान का स्थान श्रद्धा ने ग्रहण किया, पर इसने हमारी सत्यान्वेषिणी वृत्ति को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिला। विज्ञान एक ऐसी दृष्टि प्रदान करता है कि जिसके समुचित उपयोग द्वारा आत्म तत्त्व गवेषण के प्रशस्त क्षेत्र में भी क्रांति की जा सकती है।

तेरह

विज्ञान द्वारा सुख-समृद्धि

"विज्ञान मानव को मानव के निकट लाने का तथा मानव के लिए सम्पूर्ण सुख सामग्री जुटाने का एक चमत्कारपूर्ण प्रयत्न है। जो इसके विरुद्ध आचरण करता है वह विज्ञान को समझता ही नही।"

—*आइन्स्टाइन*

अनेक आशकाओ के बावजूद आज मानवीय दृष्टिकोण विज्ञान के प्रति आशान्वित है। क्योकि इन्द्रिय सम्भूत सुखोपलब्धि के समग्र साधन वह जुटाता है। अतीत मे सम्राटो के लिए भी दुर्लभ साधन आज अकिंचनो के लिए भी सर्व सुलभ हो चले है। विज्ञान की चमत्कृतियाँ अद्भुत् है। टेलीविजन को ही लीजिए, हजारो मील दूर होने वाली प्रत्येक प्रक्रिया को जहाँ कही भी, वैज्ञानिक साधन उपलब्ध है, बैठकर देख सकते है। औद्योगिक सस्थान का व्यवस्थापक अपने कमरे मे ही सस्थान की कार्यवाही का निरीक्षण कर सकता है। हीटर का 'प्लग' लगाते ही आपको गर्म-गर्म पानी तत्काल मिल जाता है।

आटा पीसने के लिए विज्ञान ने आपको पवन चक्कियाँ या कल चक्कियाँ प्रदान की है।

पानी दूर से ढोकर लाने की दिक्कत नही करनी पडती है। नल खोलते ही गगा-यमुना की विमल जल-धारा आपको नहला देती है।

आप गर्मी मे घबरा रहे है। बस, बटन दबाने की ही देर है, पखा फर-फर हवा करके आपको शान्ति प्रदान कर देगा।

भोजन बनाने के लिए धुएँ मे आँखो को कष्ट देने की आवश्यकता नही रही—फूंका-फूंकी नही करनी है। 'कुकर' मे खाद्य सामग्री डालते ही रसोई आसानी से तैयार हो जाती है।

विविध विषयक ज्ञान प्राप्ति के लिए विद्यार्थी को कागजो पर हाथ से लिखने और नकल करने की जरूरत नही। सौ, दो सौ या हजार पृष्ठो की

तेरह

विज्ञान द्वारा सुख-समृद्धि

"विज्ञान मानव को मानव के निकट लाने का तथा मानव के लिए सम्पूर्ण सुख सामग्री जुटाने का एक चमत्कारपूर्ण प्रयत्न है। जो इसके विरुद्ध आचरण करता है वह विज्ञान को समझता ही नही।"

—*आइन्स्टाइन*

अनेक आशकाओ के बावजूद आज मानवीय दृष्टिकोण विज्ञान के प्रति आशान्वित है। क्योकि इन्द्रिय सम्भूत सुखोपलब्धि के समग्र साधन वह जुटाता है। अतीत मे सम्राटो के लिए भी दुर्लभ साधन आज अकिंचनो के लिए भी सर्व सुलभ हो चले है। विज्ञान की चमत्कृतियाँ अद्भुत् है। टेलीविजन को ही लीजिए, हजारो मील दूर होने वाली प्रत्येक प्रक्रिया को जहाँ कही भी, वैज्ञानिक साधन उपलब्ध है, बैठकर देख सकते है। औद्योगिक सस्थान का व्यवस्थापक अपने कमरे मे ही सस्थान की कार्यवाही का निरीक्षण कर सकता है। हीटर का 'प्लग' लगाते ही आपको गर्म-गर्म पानी तत्काल मिल जाता है।

आटा पीसने के लिए विज्ञान ने आपको पवन चक्कियाँ या कल चक्कियाँ प्रदान की है।

पानी दूर से ढोकर लाने की दिक्कत नही करनी पडती है। नल खोलते ही गगा-यमुना की विमल जल-धारा आपको नहला देती है।

आप गर्मी मे घबरा रहे है। बस, बटन दबाने की ही देर है, पखा फर-फर हवा करके आपको शान्ति प्रदान कर देगा।

भोजन बनाने के लिए धुएँ मे आँखो को कष्ट देने की आवश्यकता नही रही—फूंका-फूंकी नही करनी है। 'कुकर' मे खाद्य सामग्री डालते ही रसोई आसानी से तैयार हो जाती है।

विविध विषयक ज्ञान प्राप्ति के लिए विद्यार्थी को कागजो पर हाथ से लिखने और नकल करने की जरूरत नही। सौ, दो सौ या हजार पृष्ठो की

और शीघ्रता से बनने लगी है। आधुनिक लाण्ड्री मे एक घण्टे मे दो हजार कपडे धोये जा सकते है। एक कमीज की तह करने मे एक मिनिट से ज्यादा समय नही लगता। मुद्रण यत्रो ने भी आश्चर्यजनक कार्य कर दिखलाये है। आज के मुद्रणालय एक घण्टे मे समाचार पत्रो की हजारो-लाखो प्रतियाँ मुद्रित कर देते है। ऐसी मशीने है जो उन पत्रो की तह करती जाती है, पते अकित करती जाती है, पैकेट बनाती जाती है, और टिकिट भी लगाती जाती है।

आज ऐसी मशीनो का भी प्रयोग किया जाता है जो बडी-बडी रकमो का जोड लगा सकती है, अनेक प्रश्नो को हल कर सकती है, ब्याज फैला सकती है। ऐसी भी मशीने है जो विनिमय की निश्चित दर पर एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा मे परिवर्तित करने का हिसाब लगा सकती है।

'डिक्टाफोन' ने लेखको को कितनी सुविधा उत्पन्न कर दी है। अनुवादको की कठिनाइयो को दूर करनेवाला टाइपराइटर भी आज मौजूद है जो एक भाषा का करीब आठ भाषाओ मे अनुवाद कर देता है।

यूरोप और अमेरिका के देश अब कृषि के लिए प्रकृति के मुहताज नही रहे। वहाँ कृत्रिम वर्षा का भी प्रयोग किया जाने लगा है। पशुओ द्वारा चलने वाले हलो के स्थान पर ट्रैक्टरो का प्रयोग तो अब पुरानी-सी बात हो गई है। प्राकृतिक खाद के बदले रासायनिक खाद, जो अत्यधिक उपजाऊ होती है, तैयार होने लगी है। वहाँ खेती-बाडी के प्राय सभी कार्यों मे यत्रो का उपयोग होता है। फसल काटने की एक मशीन, जो 50 हॉर्स पावर से चलती है और जिसमे 30 फुट तक लम्बी दराती होती है, बडी शीघ्रता से फसल काटती है और प्रतिदिन करीब हजार, डेढ हजार बोरी अनाज भी निकाल देती है।

ऐसी मशीनो का भी आविष्कार हो चुका है जो एक घटे मे 2400 रोटियाँ बना सकती है, 2400 बोतलो मे दवा भर सकती है और 3000 बोतलो को डाट लगा कर बद कर देती है।

पहले एक मनुष्य दिन भर चोटी से एडी तक पसीना बहाकर कुछ मन मिट्टी खोद पाता था, आज मशीन की सहायता से, उतने ही समय मे, 1500 से 2000 टन तक मिट्टी खोदी जा सकती है।

मनुष्यो की सुविधा के लिए नदियो के प्रवाह तक बदल दिये गये है।

भवन-निर्माण कला ने भी एक नूतन ही रूप धारण कर लिया है। सैकड़ों मंजिल के गगनचुम्बी भवन कुछ ही महीनों में तैयार हो जाते हैं।

विश्व की जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण जटिल बनी खाद्य समस्या को भी विज्ञान ने बहुत हद तक सुलझाने का प्रयत्न किया है। सिंचाई के लिए नहरें और नलकूप खोदकर ऐसे भूभागों तक पानी पहुंचाया गया है जो युगों से बंजर पड़े थे।

जलविद्युत् भी कृषक के लिए एक महान् वरदान सिद्ध हुई है। आज कृषि क्षेत्र में बीज बोने से लेकर फसल काटने तक के सभी कार्य वैज्ञानिक उपकरणों से होते हैं। परिणामतः मनुष्य की अनेकानेक मुसीबतें कम हो गई हैं।

आधुनिक युग में नगर दैत्य की तरह विशाल से विशालतर बनते जा रहे हैं और ज्यों-ज्यों उनमें जनसंख्या की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों स्वच्छता की समस्या भी महत्त्वपूर्ण बनती जाती है। मगर विज्ञान ने इस समस्या के समाधान में भी पूर्ण योग प्रदान किया है। जल के निष्कास के साधन, जमीन के नीचे की नालियां तथा पम्प—यह सब विज्ञान ने ही उपजा है।

प्राचीन काल में मनुष्य पैदल या घोड़ों, ऊँटों, हाथियों अथवा बैल-गाड़ियों आदि से यात्रा करता था। यात्रा के यह सब साधन समयसाध्य, कष्टप्रद एवं संकटमय थे। उन्नीसवीं शताब्दी में भाप के इंजन के आविष्कार ने यातायात व्यवस्था के क्षेत्र में एक नवीन और अद्भुत युग की सृष्टि की। पशुओं द्वारा खींची जाने वाली गाड़ियों का स्थान रेलगाड़ियों ने ले लिया और अब तो मनुष्य मृग की तरह पृथ्वी तल पर सरपट दौड़ लगा सकता है। व्योमयानों ने तो विद्युत्चालित गाड़ियों को भी मात कर दिया है।

एक दिन मनुष्य आकाश में उड़ने के सपने देखा करता था। यूनानी पौराणिक कथाओं में [illegible] कुछ इसी प्रकार की है। यह अपने [illegible] के साथ पेड़ से उड़कर कहीं पहुंचता था। [illegible] ने अपने बाहुओं पर पक्षियों के पंख बांध रखे थे।

[illegible]

आमतौर पर व्योमयान होते थे। रामायण में भी ऐसा ही एक उल्लेख उपलब्ध होता है। सुना जाता है कि अभी कुछ दिन पूर्व संस्कृत भाषा का एक ग्रन्थ मिला है, जिसमें व्योमयान बनाने की विधि का वर्णन किया गया है। इन सब बातों से, इस विचार को बल मिलता है कि किसी जमाने में भारतीय 'विद्याधर' (वैज्ञानिक) व्योमयानों का प्रयोग करते थे। वस्तुत यह विषय अन्वेषण की अपेक्षा रखता है। कुछ भी हो, आज के मानव ने वायुयानो के चमत्कार को प्रत्यक्ष देख लिया है। अब वह स्वय पक्षी की भाँति आकाश मे उड लेता है। एक बडे विमान म 80 तक यात्री बैठ सकते है, चालक अलग। विमाना म शौचालय, भोजनगृह आदि की सुन्दर व्यवस्था रहती है। 1800 मील प्रति घण्टा गति करने वाले वायुयान भी बनने लगे है। अतएव अत्यधिक लम्बी उडाने भी अब कठिन नही रह गई है। कुछ ही घण्टो मे समग्र विश्व का भ्रमण करने की योजना भी बन रही है। यही नही, यूरोपीय देशो मे ग्रोनियेप्टर नामक एक ऐसा यत्र भी बन रहा है, जिसकी सहायता से प्लास्टिक के पख लगाकर मनुष्य स्वत चिडिया की तरह उड सकेगा, उसके लिए न किसी हवाई अड्डे की आवश्यकता होगी और न किसी टीमटाम की।

आज के दैत्याकार विराट् और अद्भुत्-क्षमताशाली यत्रो ने मानवीय जीवन म एक भूचाल-सा उत्पन्न कर दिया है। किसी बडे कारखाने मे जाकर आप देखेंगे तो रोमाच हो उठेगा, ऐसा अनुभव होने लगेगा, मानो मनुष्य ने भूतो को ही वश मे कर लिया है।

आज का मनुष्य धरती और आकाश मे ही नही वरन् समुद्र के वक्षस्थल पर भी अप्रतिहत गति मे मछलियो की भाँति विचरण कर रहा है। आधुनिक जल जहाज पुरानी समुद्री नौकाओ की तरह हवा और लहरो पर निर्भर नही है और न तूफानो मे ही उन्हे खतरा है। ये जहाज इतने विशाल होते है कि उनके भीतर छोटा-मोटा नगर समा सकता है। इनमे एक साथ हजारो लोग यात्रा करते है। सहस्राधिक टन की सामग्री भी ढोई जा सकती है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय मे भारत से इगलैण्ड पहुँचने मे एक वर्ष लगता था जब कि आज तीन सप्ताह पर्याप्त है। अन्तर्प्रान्तीय व्यापार, वाणिज्य सम्बन्धी वस्तुए प्रचुर परिमाण मे जलयानो द्वारा सरलता से एक

नि सन्देह अभूतपूर्व है ।

रचनात्मक क्षेत्र मे यद्यपि आश्चर्यजनक आविष्कार विज्ञान द्वारा सम्पन्न हुए है, पर दुर्भाग्य की बात है कि विनाशकारी क्षेत्र मे भी इसकी सफलता कल्पनातीत है । प्रथम महायुद्ध के समय यौद्धिक विमानो का आविष्कार हुआ, द्वितीय महायुद्ध मे आशिक परिमार्जन किया गया और अद्यतन युग मे तो अत्यन्त शीघ्रगामी वायुयानो की सृष्टि हो गई जिसकी कल्पना से ही हृदय प्रकम्पित हो जाता है । असैनिक उड्डयन मे भी बी० ओ० सी० टी० जैट पद्धति के वायुयान 500 मील की यात्रा प्रति घण्टे मे कर लेते हैं। जर्मनो ने द्वितीय महायुद्ध के समय मे बिना चालक के तीव्रगामी यानो की सृष्टि की थी जो 20 मील की ऊचाई तक उड सकते थे । अमेरिका के सुपरफोर्टरेस व्योमयानो की न केवल उतनी गति है अपितु उन मे तो व्योम मे तेल तक पहुँचाया जाता है । दूरमारक तोपे, विमानभेदी तोपे, पनडुब्बियाँ और तारपीडो नौकाएँ आदि उल्लेखनीय है । रेडार के आविष्कार से आज का नागरिक अपरिचित नही । विषाक्त वायु व कीटाणुयुक्त वायु का आविष्कार सहारकारी विज्ञान की देन है। हीरोशिमा मे गिराये गये अणुबम की सहारलीला को अभी हम भूले नही है । वर्तमान मे अमेरिका, रूस और इग्लैण्ड ने भी परमाणु बम तथा हाइड्रोजन बम बना लिये है । ये अस्त्र बहुत ही खतरनाक और मानव व मानवता के नाश के लिए पर्याप्त है । रूस द्वारा परीक्षित टी-एन-टी बम तो विनाशकारी अस्त्रो मे उपलब्ध अस्त्रों मे सर्वोच्च है । अब तो अणु द्वारा मानव जीवन की आवश्यकता की पूर्ति मे प्रयुक्त यन्त्रोद्योग के लिए प्रयास प्रारम्भ हो चुके है।

इस प्रकार विज्ञान के सर्वांगीण व सर्व क्षेत्रीय विकास ने मनुष्य के श्रम की बचत की है और सुख सुविधाएं बढाई है ।

सर्वप्रथम जल शक्ति को ही लें। यह शक्ति अक्षय्य है। ईंधन-स्वरूप कोयला एक दिन खदानों में समाप्त हो सकता है, किन्तु वर्षा जब तक होगी, हिमप्रपात भी तब तक होता रहेगा। जब तक समुद्र का अस्तित्व है तब तक जल स्रोत कभी निःशेष नहीं होंगे। इस विस्तृत जलराशि का प्रयोग समुचित रूप से कुछ ही वर्षों से प्रारम्भ हुआ है। पूर्वीय देशों में Water Wheel के द्वारा सिंचाई में जल प्रयुक्त होता था। अब आटा पीसने में, लकड़ी चीरने वाली मशीन के संचालन और अन्य यंत्र संचालन में भी इस शक्ति का प्रयोग व्यापक परिमाण में होता है। उन्नीसवीं सदी के बाद ही इस विकासात्मक परम्परा का सूत्रपात हुआ।

जिस समय टरबाइन एवं पेल्टन वाटर ह्वील का आविष्कार हुआ उस समय मनुष्य जल शक्ति पर पूर्ण रूपेण नियंत्रण कर सका। अब तो नियागरा-जल प्रपात की महान् शक्ति को जनोपयोगी बनाने के लिए नियन्त्रित कर लिया गया है। टरबाइन के द्वारा ही यह कार्य सम्पन्न हुआ। इससे उत्पन्न विद्युत् 300 मील पूर्व पश्चिम और 100 मील, उत्तर-दक्षिण प्रदेश में विस्तृत कल-कारखानों को सुचारु-रूपेण संचालित करने की क्षमता रखती है। न केवल इस विद्युत् से रेलें ही चलाई जाती हैं, अपितु, उस विशाल भूखण्ड के नगर भी जगमगाते हैं। यदि संचित जल शक्ति का समुचित उपयोग न किया जाता तो वहाँ का जीवन चलाने के लिए लाखों टन कोयलों की आवश्यकता होती।

अमेरिका में जल शक्ति संसाधन प्रचुर हैं। इंग्लैण्ड में अत्यल्प हैं। किन्तु स्कॉटलैण्ड की पठार भूमि में जल-संसाधनों के नियन्त्रण व उपयोगार्थ द्रुतगति से प्रयास हो रहा है। पंजाब की नहरें, सिंध का लॉयड बाँध, दक्षिणस्थ मैसूर बाँध, हीराकुंड, भाखड़ा और चम्बल बाँध आदि कई स्थानों पर भारत में जलीय शक्ति द्वारा विद्युत् उत्पन्न की जा रही है। सापेक्षतः यह अल्प व्ययी है। भारतवर्ष जल विद्युत् निर्माण के लिए और भी प्रयत्नशील है। जब राष्ट्र में जल विद्युत् द्वारा नलकूपों से खेतों में सिंचाई के प्रयोग साकार होंगे तब न केवल खेतों में अन्न की फसल लहलहाने लगेगी अपितु, अन्य ग्रामोद्योगों के विकास को पर्याप्त अवसर मिलेगा। फिर देश को उतनी वर्षा पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा।

भारतीय वेद वेदान्तादि साहित्य में ही सूर्य का यशोगान किया है, अपितु ठेठ लोक साहित्य तक में सूर्य-कीर्ति की परंपरा आज भी अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। आन्तरिक जगत के क्रमिक विकास में काम आने वाली सूर्य शक्ति की उपयोगिता से भारत का बच्चा-बच्चा परिचित रहा है। पर सूर्य की प्राकृतिक उपयोगिता किसी भी दृष्टि से किसी भी अंश में कम नहीं है। जब वैज्ञानिक सम्पूर्ण शक्तियों पर नियन्त्रण करने के लिए कटिबद्ध थे तो इस प्रत्यक्ष और अत्यधिक कार्यशील शक्ति के प्रति कैसे उदासीन बने रहते। फलस्वरूप केलिफोर्निया के दक्षिण पोसडीना में दश अश्व शक्ति का एक वाइलर सूर्य ताप निर्मित वाष्प से चलता है, जिससे एक मिनट में 1400 गैलन जल निकाला जा सकता है। व्यय भी बहुत अल्प आता है। रूस ने सूर्य-किरणोत्पन्न विद्युत् शक्ति के प्रयोगों में आशातीत सफलता प्राप्त की है। वस्तुतः पृथ्वी के प्रत्येक ऊष्ण कटिबन्ध प्रदेश में सूर्य ताप की शक्ति का अधिकाधिक उपयोग किया जा सकता है। ईंधन के रूप में भी सूर्य शक्ति का प्रयोग होता है।

आज जिस शक्ति की ओर वैज्ञानिकों का बहुत कम ध्यान गया है वह है ज्वार शक्ति। समुद्र और बडी नदियों में उठने वाले ज्वारों का उपयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। यदि इसका समुचित उपयोग बडे विस्तृत रूप में किया जाय तो बहुत बडा कार्य हो सकता है। अमेरिका और इंग्लैण्ड तथा कुछ अन्य पश्चिमी देशों ने ज्वार की शक्ति को एकत्रित कर उसका समुचित उपयोग अच्छे ढंग से किया है और अब इसकी शक्ति की तुलना भविष्य में जल विद्युत् के मुकाबिले में टिक सकेगी ऐसी पूर्ण सम्भावना है।

प्राकृतिक शक्तियाँ अनेक हैं। दिनानुदिन विज्ञान द्वारा इन पर प्रभुत्व प्राप्ति के पुरुषार्थ वृद्धिगत होते जा रहे हैं। सम्भव है ज्ञात शक्तियों द्वारा ही अज्ञात शक्तियों की उपलब्धि का सूत्रपात भविष्य में हो जाय, जिनसे सामाजिक जीवन में और भी अधिक सुतुलन स्थापित किया जा सके। आणविक शक्ति का अद्यावधि मानवोपयोगी तथ्य की दृष्टि से उतना अधिक विकास नहीं हो पाया है। पर जहाँ तक ध्वंसात्मक साधनों का प्रश्न है अणुशक्ति सर्वाधिक सफलता प्राप्त करती जा रही है। शक्ति वही है जो निर्माण को गति दे। ध्वंस की ओर गतिमान शक्ति अपनी "शक्ति संज्ञा" को कहाँ तक

पन्द्रह

आधुनिक विज्ञान द्वारा मानव-सेवा

आज के उन्नत विज्ञान ने मानव-जीवन और समाज के प्रत्येक क्षेत्र को न केवल स्पर्श ही किया है अपितु सर्वांगीण विकास की सुदृढ परम्परा भी कायम की है। धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे भी नया दृष्टिकोण प्रदान करते हुए प्राचीनतम अनिवार्य रहस्यो के प्रति भी समीचीन दृष्टि दी है। राष्ट्रीय वैषम्य, दूरत्व, निर्यात आदि कई तथ्यो मे सामजस्य स्थापित किया है। आध्यात्मिक दृष्टि से एक मनुष्य वर्षो तक साधना कर जो फल प्राप्त करता था, उसके प्रसार और विकास मे दीर्घकाल की अवधि अपेक्षित थी। पर आज के वैज्ञानिक युग मे एक व्यक्ति की अल्पकालिक साधना लाखो का मार्ग प्रदर्शन करती है, जीवन मे साम्य स्थापित करती है और इसका प्रसार भी अत्यन्त शीघ्र विश्वव्यापी बन जाता है। हम यह नही चाहते कि विज्ञान द्वारा प्राप्त फलो को एक-एक करके गिनाएँ। यदि एक शब्द मे कहा जाय तो विज्ञान मानव जाति के लिए एक वरदान है। वह अभिशाप तब प्रमाणित होता है जब वह सृजन का पथ छोडकर विध्वस की ओर गतिमान होता है। वह शान्ति का सन्देश दे और वैषम्य मे साम्य स्थापित कर सके तभी हमारे लिए वह वरदान है। आइन्स्टाइन ने ठीक ही कहा है कि "विज्ञान विध्वस के लिए नही है, जो राज्य विज्ञान का दुरुपयोग करता है और उसका उपयोग दूसरो को डराने या अन्य पर प्रभाव जमाने के लिए करता है, वह न केवल विज्ञान का, अपितु वैज्ञानिकों की आत्मा का शोषण करता है।"

[illegible] पुरुषार्थ
[illegible] में कार्यरत रहकर
[illegible] देता है। जहाँ [illegible]
[illegible] नहीं
रहता। अमेरिका ने प्रचुर धन [illegible] उस क्षेत्र में सर्वाधिक अनुभव रखने
वाले विद्वान् व यन्त्रशास्त्रियों [illegible] प्रचुर वेतन दे न्यूमेक्सिको की भूमि के
एक कोने पर लोस अल्मोस स्थान पर परमाणु बम की प्रयोगशाला बनाई।
14 अप्रैल, 1943 को हार्वर्ड विश्वविद्यालय का साइक्लोट्रोन वहाँ
पहुँचाया गया।

चाहे किसी भी राष्ट्र द्वारा उस बम का आविष्कार हुआ हो, हमें उसका निर्णय नहीं करना है। पर इतना सच है कि संसार को अणुबम का सर्वप्रथम ज्ञान 1945 में हुआ।

दूसरा महासमर समाप्ति पर था। रूस तथा मित्र राष्ट्रों के सामूहिक प्रयत्न से जर्मनी की पराजय हुई। पूर्व में जापान अपनी अतुल शक्ति से इनसे मोर्चा ले रहा था। जापान की इस दुर्दम्य शक्ति को रोकने के लिए 6 अगस्त, 1945 को हीरोशिमा पर अणुबम फेंका। ढाई लाख की जन संख्या वाला वह नगर भस्मिभूत हो गया। मकानों में लगा हुआ लोहा पानी की तरह बहने लगा, इसके तीन दिन बाद ही 9 अगस्त, 1945 को दूसरा बम नागासाकी पर गिराया गया। यहाँ भी वही मृत्यु-ताण्डव हुआ जिसकी कल्पना नहीं कर सकते। चार मील के क्षेत्र में कोई प्राणी नहीं बच सका। भाग्यवश जो बचे वे भी अपाहिज या विकलांग हो गए। फलस्वरूप जापान ने शस्त्रास्त्र रख दिए। उस क्रूरतम घटना से मानव के माथे पर जो कलंक का टीका लगा वह अभी तक नहीं धुला है। इन बमों के विस्फोट के कारण वर्षों तक वहाँ वनस्पति उत्पन्न नहीं हो सकेगी। 80 फीट नीचे तक की पृथ्वी जल गई चल-अचल वस्तुएँ पिघलकर लावा बन गई। 100 मील तक उसका प्रभाव पहुँचा।

विज्ञान का दूसरा प्रलयकारी उच्छ्वास है—उद्जन बम (हाईड्रोजन बम), जिसकी ध्वंसात्मक शक्ति सापेक्षत दो सौ गुनी अधिक है। उसके निर्माण में चार-पाँच करोड़ रुपयों का व्यय होता है। उसकी शक्ति दस

परीक्षक बोट मारग्नाक पोत में जा पहुँचे। दोपहर को पत्रकारों के लिए भी आज्ञा मिल गई। वहाँ युद्ध के, कुछ उलटे से कुछ पोत दिखाई पड़ रहे थे। विमानवाहक इण्डिपेण्डेन्स जो और आधुनिक युद्ध-पोतों में से था, वह भी परमाणु बम की सनक का शिकार हुआ। पीछे पता लगा कि इण्डिपेण्डेन्स यद्यपि ध्वस्त हो गया था तो भी डूबा नहीं। पत्रकारों की आँखें सभी जहाजों में जीवन के चिह्न ढूँढ रही थीं और देखना चाहती थीं कि परमाणु बम के वाताघात से सुअरों, बकरियों और चूहों में से कौन बचा। पहले जीवधारी आक्रमणकारी वाहक फालोन के ऊपर दिखाई पड़े। यह पोत नेवादा से एक मील दूरी पर था। सम्वाददाताओं ने वहाँ दो बकरियों को देखा जिनमें एक कठघरे पर खड़ी थी, उसकी दाढ़ी हवा में हिल रही थी, दूसरी लेटी हुई थी। उनकी आँखें चौंधियायी-सी थी। दोनों जानवरों पर आघात का प्रभाव दिखलाई पड़ रहा था। विशाल विमानवाहक 'सरातोगा' परमाणु बम के वाताघात की पहुँच से दूर था। उसके ऊपर के प्राणी अच्छी अवस्था में थे। प्रथम बिकिनी परीक्षा ने यह सिद्ध कर दिया कि परमाणु बम के पतन स्थान से दो मील दूर पर 'सरातोगा' जैसे पोत सुरक्षित रह सकते हैं। युद्ध में 100 फुट पर गिरे गोले से बच निकलने की आशा रहती है किन्तु परमाणु बम के गिरने के दो मील तक सुरक्षा की आशा नहीं। 'सरातोगा' जैसे पोत के डेक पर यदि नाविक रहते तो वहाँ पर रख छोड़े सूअरों की भाँति शायद बम विस्फोट के दूसरे दिन वे जीवित रहते। लेकिन कौन कह सकता है कि हीरोशिमा के अभागों की भाँति वे दस या अधिक दिन में मर नहीं जाते। नेवादा दूसरे दिन सारे समय तप्त रहा। यह रेडियो क्रिया सम्बन्धी रेडियोकरण का प्रभाव था। बम विस्फोट के 72 घंटे बाद ही संवाददाता नेवादा के ऊपर जाने की इजाजत पा सके।"[1]

सन् 1955 के प्रारम्भ में यही बम अमेरिका ने नेवादा स्थित एक उच्च मीनार पर गिरा कर देखा। 500 मील की दूरी पर इसकी चमक दृष्टि-

1. सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ ११-१३।
परमाणुशक्ति और परमाणु बम—राहुल सांकृत्यायन।

[illegible] और इसी बात [illegible] से [illegible]
[illegible] पाटिन [illegible]

[illegible] 160 [illegible] ऊँचाई पर गया और पृथ्वी की आकर्षण शक्ति (Force of Gravitation) से लड़ता हुआ अपनी कक्षा बनाकर 18000 मील प्रति घण्टे की गति से पृथ्वी के चारों ओर भ्रमण करने लगा। इसकी गति के सम्बन्ध में [illegible] ने कहा था "छोड़े जानेवाले राकेट के इंजन की [illegible] तुलना [illegible] के सर्वोच्च विद्युत घर से की जा सकती है।" राकेट के आकार पृथ्वी पर चलनेवाले यन्त्र के समान कोई ऐसा यन्त्र नहीं है जो इस गति प्रदान करता हो, केवल लोह आवेष्ठित एक खोल है, जिसमें एक दहन कक्ष है। इसमें एक प्रकार का ईंधन जलता है जिसकी गैस बनती है। यह गैस खोल के पिछले भाग में किए गए छिद्र के जरिये बाहर निकलती है। इसी की तीव्रगति की प्रतिक्रिया से राकेट ऊपर उठता है। जैसे वायु पूरित गुब्बारे में सुई से छिद्र करने पर ज्यों-ज्यों हवा निष्कासित होती है त्यों-त्यों गुब्बारा तीव्र वेग से गगन की ओर ऊँचा उठता चला जाता है।

कहा जाता है कि आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व चीन वालों ने बहुत साधारण शक्ति वाले राकेट प्रयुक्त किये थे। अठारहवीं शताब्दी में अंग्रेज सेना ने नवाब हैदरअली पर चढ़ाई की। उस समय नवाब की सेना ने अंग्रेजी सेना पर विस्फोटक प्रक्षेपणास्त्र छोड़े थे जो 8 इंच लम्बे और 2 इंच व्यास के फौलादी लोहे के सिलेण्डरों से निर्मित थे। अंग्रेजी सेना इसका प्रतिकार करने में अक्षम थी। इसी भारतीय राकेट पद्धति से प्रेरणा पाकर अंग्रेज वैज्ञानिक कर्नल काग्रीव ने इंग्लैण्ड की एक अनुसंधानशाला में प्रयोग करके इन मसालों में कुछ संशोधन किया और वह राकेट डेढ़ मील तक मार करने की क्षमता रखते थे। तदन्तर प्रथम महायुद्ध के समय अमेरिकन वैज्ञानिक डा० गाडर्ड ने इसे और भी संशोधित रूप दिया। द्वितीय महायुद्ध के समय जर्मनी के 2200 वैज्ञानिकों ने इसकी शक्ति को अतिमानुषी बनाकर एक और अभिवृद्धि की। सर्व प्रथम 8 सितम्बर, 1944 में जर्मनी का प्रथम राकेट

जहाँ [illegible] से [illegible] कर [illegible]
[illegible] कर [illegible] करने के लिए इस
प्रकार के [illegible] होगे। यदि [illegible] के लिए प्रति सब्द एक
पैसा भी लिया जाय तो [illegible] के [illegible]
जाएगा, यहाँ तक कि [illegible] चन्द्रलोक की यात्रा का पूर्ण व्यय प्राप्त
हो जाएगा।

वर्तमान रॉकेट चन्द्रलोक को जाकर लगातार यदि पुन लौटे तो इस की गति प्रति घण्टा 23900 मील होनी चाहिए। गति के अतिरिक्त मानव शरीर की सहन शक्ति, क्षमता, ऊष्मा-गति-सहन-योग्यता, गगनीय उल्काओ से विध जाने का और अन्तरिक्ष किरणो से शक्ति क्षीणता का भय आदि अनेक बाधाएँ मानव के समक्ष मुँह बाये खड़ी है। साथ ही चन्द्रलोक मे खाद्याभाव है, वापस लौटना भी समस्या ही है। इन सब बातो से एक विचार तो मानव पटल पर अंकित हो ही जाता है कि विज्ञान का यह विकास निर्माण या विनाश दोनो मे से कुछ न कुछ करके ही रहेगा, क्योंकि विज्ञान के उच्छ्वासो ने स्वय उसे सकट मे डाल रखा है।

[illegible] उसका [illegible] है।

यह [illegible] कि 23 घण्टे 15 मिनट तक अन्तरिक्ष यान वोस्तोक-2 ने भ्रमण किया [illegible] और 110000 किलोमीटर की दूरी अर्थात पृथ्वी और चांद के बीच की दूरी से [illegible] दूरी तय की। तितोव की इस सफल यात्रा [illegible] है। राष्ट्र के बड़े-बड़े गुरु और वैज्ञानिकों का [illegible] इतना निश्चित हो चला है कि हम शीघ्र ही चन्द्र व मंगल ग्रह की यात्रा करने में सफल हो सकेंगे। मेजर घेर्मान तितोव ने सोवियत संघ की महासभा में अपना वक्तव्य देते हुए यह बतलाया कि "उड़ते समय मुझे भूख नहीं लगी पर मास्को समय से लगभग साढे बारह बजे मैंने दिन का खाना और छठी परिक्रमा में रात का खाना खाया। सातवीं से बारहवीं परिक्रमा के बीच हमारे अन्तरिक्ष नाविक ने कार्यक्रम के अनुसार सोकर विश्राम किया। तेरहवीं परिक्रमा जब आरम्भ हो रही थी तब उसकी नींद खुली और उड़ान के दौरान में उसने कसरत की।"

समूचे विश्व का ध्यान आज सोवियत अनुसंधान की प्रगति पर केन्द्रित है। वास्तव में वैज्ञानिक युग की ये सबसे बड़ी उपलब्धि है।

विज्ञान के दो पहलू

विज्ञान का एक पहलू [illegible] भावना से पूरित है। यह मानव [illegible], [illegible] और अभावों को दूर करने की असीम सामर्थ्य प्रदान करता है। आज [illegible] यह भी आशा की जा सकती है कि यह विज्ञान अपनी [illegible] शक्ति द्वारा गरीबी, अज्ञान और रोगों का नाश कर पृथ्वी पर स्वर्ग का अभिनव [illegible] करेगा। उक्त आकांक्षा की पूर्ति तभी संभव हो सकती है जबकि विज्ञान द्वारा प्रदत्त अमूल्य अविष्कारों का उपयोग केवल मानव कल्याण के लिए किया जाए। यदि ऐसा न हो सका तो सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टाइन के शब्दों में "विज्ञान की विपरीत दिशा में विश्व का सार्वभौम नाश निश्चित है।"

विज्ञान का दूसरा पहलू वह है, जिसमें भय, हिंसा आदि की विषाक्त एवं दुर्दान्त भावना का सन्निवेश है। वह विज्ञान दानव अपने प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में समूचे विश्व को निगलने के लिए लालायित है। वह एक से एक भयंकर एवं प्रलयकारी संहारक अस्त्रों की झंकारों के स्वर छोड़ रहा है। विश्व के रंग-मंच पर अपना नग्न ताडव करने को समुद्यत है। अतः प्रत्येक विचारक के सम्मुख यह प्रश्न समुपस्थित होता है कि विज्ञान मानव जाति की असीम उन्नति एवं कल्याण का अबाध स्रोत है—या विनाश का कारण ? आज देश के मूर्धन्य मनीषियों को उक्त प्रश्न पर तटस्थ नीति से सोचना है।

पाश्चात्य विचारक गेटे ने जीव को मारकर जीवन की गतिविधि परखने का दोषी विज्ञान को ही बतलाया है—He, who studies some living thing, first drives the spirit out of the body

उस प्राणी के हृदय की घृणा विज्ञान को ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार अन्य विचारकों ने भी विज्ञान की भर्त्सना कर अपनी भावना अभिव्यक्त की है। महात्मा गांधी जी के शब्दों में—Who can deny that much that passes for science and art today destroys the soul instead of lifting it, and instead of evoking the best in us panders to our best passion. अर्थात् "इस बात के लिए आज कौन मना कर सकता है कि विज्ञान और कला ने मनुष्य की आत्मा को उन्नतिशील और विकासशील बनाने की अपेक्षा उसको और भी नष्ट-भ्रष्ट

[illegible] के प्रयोग करने [illegible] गत हीरो-शिमा [illegible] करने का श्रेय अमरीकी [illegible] 1950 के नोबल पुरस्कार विजेता [illegible] ठीक ही है कि—“मनुष्य अपनी [illegible] भी [illegible] कर रहा है। मनुष्य ही जीवनदायिनी शक्ति [illegible] जीवननाशिनी बना रहा है। मनुष्य ही विज्ञान-संसार को सर्वनाश की ओर ले जा रहा है। अन्यथा यह आशा व्यर्थ नहीं है कि विज्ञान इस कष्टपूर्ण संसार की काया पलट दे और सबके लिए एक नये सुखात्मक और शक्तिशाली स्वर्ग को जन्म दे।”

संक्षेप में साराश यह है—विज्ञान हमें इसलिए प्रेरित नहीं करता कि हम अशांति और वेदना का कारण बने, अपितु वह तो हमें उस स्थान पर पहुंचाता है, जहां हमारे मस्तिष्क को विकासावस्था प्राप्त होती है।

[illegible] है, जिसने [illegible] और [illegible] कल्याणकारी [illegible] किया है। [illegible] ही [illegible] है। [illegible] परन्तु [illegible] को सहर्ष [illegible] स्वीकार किया है। [illegible] भिन्न विचारवाले राष्ट्रों के सम्मुख शान्ति स्थापनार्थ पंचशील जैसे जनहितकारी सिद्धान्त का सफल सूत्र-पात किया है। अहिंसा को न केवल भारत ने अपना अमृत ही माना है अपितु इसीके आधार पर स्वराज्य प्राप्त कर विश्व को दिखला दिया कि भयंकर वैषम्य में भी अहिंसात्मक अमृत साम्य स्थापित कर, कैसी भी पेचीदगी को सरलता से सुलझा सकता है।

अणुबम के विनाशकारी प्रभाव ने विश्व राजनीति में उथल-पुथल मचा दी। भय के कारण प्रत्येक राष्ट्र अपने पास विनाश अस्त्र बड़ी संख्या में संग्रह करने लगा है। और साथ ही यह भी अनुभव करने लगा है कि जिसके पास अणुशस्त्र नहीं है वे विश्व-राजनीति में पश्चात्पाद गिने जाएंगे। भविष्य में उनकी सत्ता नष्ट हो जाएगी। राजनीतिक क्षेत्रों में यह सोचा जा रहा है कि आणविक अस्त्र संग्राहक राष्ट्र ही अजेय है। इसी कारण आज रूस और अमेरिका में मनोमालिन्य बना हुआ है। दोनों राष्ट्र शक्तिशाली आण-विक अस्त्रों के स्वामी हैं। अपेक्षाकृत रूस कुछ आगे है। ये दोनों राष्ट्र आए दिन पारस्परिक घुड़कियाँ बताया करते हैं जिनका प्रभाव अन्य राष्ट्रों पर भी पड़ता है। यदि तृतीय महायुद्ध में ये विनाशकारी अस्त्र प्रयुक्त हुए तो संसार की क्या दशा होगी ?

अणु अस्त्र प्रयोगों के समय आइन्स्टाइन ने उचित ही कहा था, "अब हमारे सामने दो ही विकल्प है, या तो हम एक साथ जिएँगे या एक साथ मरेंगे।" यदि अणु अस्त्रों का प्रयोग हुआ तो विश्व में मानव जाति का अस्तित्व संदिग्ध हो जाएगा। इसीलिए मानव सभ्यता के उन्नतिशील द्रष्टा इस प्रकार के अस्त्रों के विरोध में आंदोलन और प्रदर्शन द्वारा इनके विरोध में वातावरण तैयार कर रहे है। परन्तु राष्ट्रों के साम्राज्यवादी मानस तक इसकी ध्वनि नहीं पहुँच पाती। यदा-कदा विरोध स्वरूप बड़े-बड़े दार्शनिक तक को कारावास भुगतने को विवश होना पड़ता है।

रखा है। [illegible] खाता, पर पृथ्वी भी [illegible] खाना चाहता है। जो, "कुम्भीपाक [illegible]" [illegible] हो जा। [illegible] उसे उसकी मूल स्थिति में परिवर्तित कर दिया। जिस प्रकार ऋषि ने सिंह को मूषक बनाकर अपनी माया समेट ली, उसी तरह मानव जाति के कल्याणार्थ यदि वैज्ञानिक अपनी माया समेट लें तो विश्व कल्याण और विश्व शान्ति हो सकती है। यद्यपि विनाशक शस्त्रों को भी कुछ लोग शान्ति का सोपान मानते हैं। ऐसे ही लोगों को लक्षित करते हुए डा० ओपन हीमर ने कहा—"दो भयंकर बिच्छू एक बोतल में बन्द कर दिये जाए तो सहज ही यह सोच-सोचकर एक दूसरे से डरते रहेंगे कि यदि एक दूसरे को काटेगा तो दूसरा भी अपना चमत्कार बिना बताए नही रहेगा और यो एक दूसरे की मृत्यु का समान और निश्चित अवसर है।" बिच्छू एक-दूसरे को डसेगा नही यह कैसे माना जाय ? मनुष्य बिच्छू से कही अधिक विषैला है जो स्वय मकडी के समान जाल बनाकर अपने आपको फसाता है पर इस प्रकार आणविक जालो की शक्ति का स्वामी होने के बावजूद भी वह मानसिक शाति का अनुभव कहाँ कर पाता है।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू आदि जैसे कई मानव कल्याणकामी विश्व प्रसिद्ध नेताओ ने कई बार बहुत स्पष्ट शब्दो मे सूचित किया है कि प्राण-घातक शस्त्रो का प्रयोग कतई बन्द हो जाना चाहिए।

रोम के इतिहास मे एक कहावत बन गई है कि "जब रोम जल रहा था तो नीरो बाँसुरी बजा रहा था।" उसने अपनी उपेक्षात्मक मस्ती मे रोम के कष्ट की तनिक भी परवाह नही की। शताब्दियाँ बीत गई, पर रोम के इतिहासकारो ने नीरो को क्षमा नही किया, बल्कि उसके दण्ड के लिए यह घृणास्पद कहावत उसकी उपेक्षा का प्रतीक बन गई। असामाजिक व्यक्ति को देखते ही नीरो का स्मरण हो आता है। ठीक यही स्थिति विश्व के प्रमुख राष्ट्रो की है। सभी शक्तिशाली गुट ज्वालामुखी के मुँह पर बैठकर आणविक अस्त्रो की बाँसुरी बजा रहे है। ज्वालामुखी के फटते ही वे नष्ट हो जाएँगे। कही ये सब नीरो की कहावत मे ही अपना अन्तर्भाव न करवा ले।

[illegible] है।

[illegible] सेना, [illegible] सेना और वायुसेना पर निर्भर है। [illegible] के परिवहन के [illegible] घोड़े और [illegible] का समावेश होता था। पर आज उनका स्थान मोटर, जीप, मोटरसाइकिल और [illegible] ने ले लिया है। तलवार, भाले आदि भारतीय शस्त्र अब [illegible] गए है। अब तो स्टेनगन, ब्रेनगन और [illegible] का युग है। [illegible] मारक तोप आदि विज्ञान की परिणति है।

नौ सेना और वायुसेना तो केवल विज्ञान पर ही अधिक निभर है। तारपीडो, यू-बोट एव राडर उनके मुख्य उपकरण है। जो राष्ट्र इस प्रकार के वैज्ञानिक साधनो से सज्जित है, वे ही दूसरो पर अपना प्रभाव स्थापित कर सकते है।

यद्यपि अमेरिका के पास वायुयान प्रचुर परिमाण मे विद्यमान है, तो भी रूस की राकेट विषयक प्रगति अधिक सतोषजनक है। युद्ध मे वैमानिक अनिवार्यता स्पष्ट है। पर प्रक्षेपणास्त्रो ने इसका महत्त्व कम कर दिया है।

अद्यतन सेना की प्रत्येक शाखा मे वायरलैस, टेलीफोन, टेलीविजन, फोटोग्राफी और रेडियो आदि महत्त्वपूर्ण यन्त्रो का उपयोग होता है। यौद्धिक चिकित्सा के क्षेत्र मे भी विज्ञान की महिमा अपरम्पार है। रासायनिक पदार्थों से निर्मित तत्काल गुणदायक और प्रभावोत्पादक ओषधियाँ विज्ञान ने दी। पौष्टिक तत्त्वो से सयुक्त ऐसी टिकियाएँ बनी जिनसे मनुष्य अपनी शक्ति भली प्रकार अधिक समय तक सुरक्षित रख सकता है। कहने का तात्पर्य है कि विज्ञान ने युद्ध के सामान्य से सामान्य समझे जाने वाले तत्त्व को भी गम्भीरतापूर्वक स्पर्श किया है। अत मनुष्य की शरीर सम्बन्धी वीरता का अब कोई महत्त्व नही रह गया। युद्ध मे जय-पराजय का कारण जन सख्या, साहस पूर्ण वीरता या चातुर्य नही अपितु योजना, सगठन और कल-कारखाने है। जो युद्धलिप्सु राष्ट्र अधिकाधिक शस्त्रास्त्र बना सकते है, वे ही विजेता की कोटि मे आते है। आजकल प्रत्येक वस्तु मे महान् परिवर्तन दृष्टिगत होता है। अणु शक्ति के प्राबल्य ने अब युद्ध को अमानुषिक और

बाईस

अणुपरीक्षण प्रतिबन्ध एवं निःशस्त्रीकरण

आज की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए किसी को भी प्रसन्नता का अनुभव नहीं होता। निष्पक्ष और शान्ति वाछुक पर्यवेक्षक अमेरिका तथा पाश्चात्य देशों के बीच शस्त्रीकरण या अणुपरीक्षण के प्रतिस्पर्धामूलक दृष्टिकोण से दुखी होते हैं। आज दो दलों में ससार विभक्त है। एक दल में अमेरिका व तदनुयायी राष्ट्र हैं तो दूसरे में रूस व उसके अनुगामी राष्ट्र। दोनों में विचार वैषम्य है। दोनों के प्रचार और विचार-विस्तार के अपने-अपने तरीके हैं।

14 अगस्त, 1910 को अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा इग्लैण्ड के प्रधानमत्री सर विस्टन चर्चिल की भेट स्वरूप एटलाटिक सधि सम्पन्न हुई जिसमे कहा गया था कि "हमारा विश्वास है कि ससार के समस्त देशों को वास्तविक अर्थात् भौतिक एव आध्यात्मिक कारणो से शक्ति के प्रयोग को अवश्य ही बन्द कर देना चाहिए।" इसका तात्पर्य यही था कि प्रत्येक राष्ट्र की पारस्परिक विरोधी समस्याओ का समाधान वार्तालाप के द्वारा ही हो, जिससे युद्ध के नाम पर धन-जन का विनाश न हो। युद्ध मे किया जाने वाला व्यय यदि जनमगलकारी कार्यों पर लगाया जाए तो युद्ध के कारण ही सदा के लिए ससार से विदा हो जाएँगे।

सन् 1942 मे पुन इग्लैण्ड, अमेरिका, रूस और चीन ने सामूहिक घोषणा की थी कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् वे सब मिलकर शस्त्रास्त्र विनिमय की व्यवस्था करेंगे। वस्तुत दो विश्व युद्धो की विनाश लीला से वे सब स्वाभाविक रूप से ही सूचित विचार पर आ गए थे।

दूसरे महायुद्ध के समय अमेरिका के पास अणु बम थे, जिनका प्रयोग उसने किया। इस युद्ध की समाप्ति के बाद नि शस्त्रीकरण की चर्चा ने पुन

[illegible] 'तीन [illegible]' के [illegible] प्रदान [illegible] दिया गया।

[illegible] शस्त्रों का पूर्ण निषेध, शस्त्रास्त्र [illegible] सेनाओं में [illegible] विदेशी राज्य क्षेत्रों में स्थापित सेना [illegible] की समाप्ति [illegible] नि शस्त्रीकरण सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर प्रस्ताव रखे। उसने स्वयं [illegible] लाख से अधिक सैनिक कम कर दिए। अन्य देशों के रूसी सेनाशिविर समाप्त कर दिए। रूमानिया से सेना पुन. बुला ली। जर्मन लोकतन्त्रात्मक गणराज्य से भी सोवियत सेना कम कर दी और यह निश्चय किया कि यदि पश्चिमी राष्ट्र पहल नही करते वह आणविक हथियारो का पुन परीक्षण न करेगा। खेद है कि सयुक्त राष्ट्र सघ के चौदह वर्षों के अनवरत परिश्रम के बावजूद भी न केवल इस विषय मे समझौता ही हो सका है वरन् शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्धा से विस्फोटक पदार्थ भी एकत्र हो गए है। जिनकी एक चिनगारी ही विश्वविनाश के लिए पर्याप्त है। विश्व मे ऐसी स्थिति सर्जित हो गई है कि यदि उद्जन बम ले जानेवाले वायुयान के किसी यन्त्र मे खराबी हुई या नियन्त्रक से किसी भी प्रकार क्षणिक प्रमाद भी हो गया तो विश्वयुद्ध छिड सकता है। ऐसे नाजुक समय पर भी निकिता ख्रुश्चेव (सोवियत सघ के मत्री परिषद् के अध्यक्ष) ने गत १८ सितम्बर, १९५९ को पुन सयुक्त राष्ट्र सघ के सम्मुख प्रस्ताव रखा "सभी देश चार वर्षों के भीतर पूर्णत नि शस्त्र हो जाएँ, ताकि युद्ध छेडने के लिए उनके पास कोई साधन ही न रहे।" साथ ही उन्होने जल, स्थल और नभ सेनाओ को सर्वथा हटाने एव शस्त्रास्त्रो का निर्माण सर्वथा बन्द करने का प्रस्ताव श्री आईक के समक्ष रखा था। आईजनहावर द्वारा रूस का यह प्रस्ताव सत्कृत हुआ।

यह प्रस्ताव सोवियत सघ के दुर्बल प्रतिनिधि की ओर से नही, वरन् विश्व के सर्वोच्च शक्ति सम्पन्न सोवियत सघ के मन्त्री परिषद् के अध्यक्ष की ओर से आया है। जिसने चन्द्रमा को वेधकर समस्त विश्व से अपना लोहा मनवा लिया है। स्वभावत इसको हवा मे नही उडाया जा सकता। इस

[illegible] ।[1]

[illegible] —

“[illegible], जिनमे पर [illegible] है । मनु- [illegible] सम्पूर्ण समस्या यही है कि मानव समाज को [illegible] । हम लोग परमाणु युग के [illegible] वातावरण मे जीवन-रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे है और विज्ञान की महान् सफलताओ ने हमारे मन मे इतना भय-आतंक फैला दिया है कि हम लगता है कि हम किसी बड़ी मशीन के विकराल शिकंजो मे फंस गये है । गृह विहीन हो गये है । हम लोग किसी भयानक गढे के किनारे पर खड़े है या शायद उसमे धँसते भी जा रहे है ।”

सचमुच आज विज्ञान मानव का त्राण नही कर सका । उसको जड प्रधान बनाकर उसकी मानवता का अपहरण किया है । विज्ञान का परिणाम मानव ने जितना सुन्दर और अभिलषित समझा था, उतना वह नही निकला।

विश्वशांति और अहिंसा

इस भयाक्रान्त युग मे मानव जाति का वास्तविक त्राण खोजा जाए तो वह अहिंसा मे ही मिल सकता है। विज्ञान अब तक इन ध्वंसात्मक अस्त्रो का प्रतिकार करने मे असमर्थ रहा, और निकट भविष्य मे भी उससे सुरक्षा की आशा नही की जा सकती। ऐसी स्थिति मे विज्ञान के साथ अहिंसा का क्रान्तिकारी सिद्धान्त सलग्न हो जाए तो विश्वशान्ति सभावित है। अहिंसा का अस्तित्व जन-जन के मन मे कायम किया जाए तो विश्वशान्ति सक्रिय रूप धारण कर सकती है और जो विश्व-आयुधो के ज्वालामुखी पर खडा है, वह हिमालय की सुशीतल एव शान्त गोद मे विश्राम पा सकता है।

वर्तमान मे जो परीक्षण विरोध तथा निःशस्त्रीकरण की दिशा मे

---

1 We appeal as human beings to human beings Remember your humanity and forget the rest. If you can do so the way lies open to a new paradise If you can not do so there lies before you the risk of universe death

—Elbert Enstiens July 1955

नवीनतम रूप आते रहे है। वास्तव मे देखा जाए तो अहिंसा की उपयोगिता अमर्याद और अचिन्त्य है।

अहिंसा का चमत्कार

अहिंसा विश्व की आत्मा है। भयभीतो की शरण है। भूखो का भोजन और प्यासो का पानी है। इसलिए अहिंसा का स्थान सभी दर्शन और धर्मो मे विशिष्ट है। अहिंसा ने वर्तमान युग मे वे कार्य करके दिखलाए है, जो अब तक मानव की कल्पना से परे थे। जिसका ज्वलत उदाहरण 14 करोड भारतवासियो की स्वतन्त्रता, कोरिया का गृह-युद्ध और हिन्द-चीन की अन्तरग समस्या है। प्रस्तुत घटनाएँ हमे अहिंसा की ओर मुडने के लिए प्रोत्साहित करती है।

आज अहिंसा का मार्ग सबमे अधिक प्रशस्त बनाने की आवश्यकता है। अहिंसा को केवल सामयिक नीति के रूप मे न अपनाकर सिद्धान्त के रूप अपनाने की आवश्यकता है। जब अहिंसा केवल सिद्धान्त के रूप मे रहकर आचरण के रूप मे आयेगी तभी देश और राष्ट्र की विकट समस्या समाप्त हो सकती है।

साराश यह है कि यदि विज्ञान पर अहिंसा का वरदहस्त रहा तो विज्ञा[illegible] मानव जाति के ध्वस के बदले स्वर्ग का एक अभिनव द्वार खोल देगा। इ[illegible] लिए आज के इस वैज्ञानिक युग मे अहिंसक वातावरण निर्माण की दि[illegible] मे राष्ट्र के महान् अहिंसा प्रेमियो को बहुत कुछ आगे बढना है।

अगड़ाईयाँ लेकर उपनिवेशवाद की बेड़ियों से मुक्त हुआ चाहते है—हो रहे है। ऐसी स्थिति मे यदि पश्चिमीय सत्ताधीशो की वही पुरानी नीति रही तो नि सदेह पारस्परिक मानवीय सम्बन्धो की स्थिति सदिग्ध हो जाएगी। मानव इतिहास से यही शिक्षा ग्रहण करना है कि युद्ध या ऐसे ही घृणित विगत कार्यो से जो स्खलनाएँ हुई है उनकी पुनरुक्ति न हो।

चर्चिल, रूजवेल्ट, स्टालिन, हिटलर, मुसोलिनी, टोजो और उनके अनुयायी महायुद्ध के लिए धर्म, ईश्वर और शाति की दुहाई दे रहे थे। अब अणु-अस्त्र के गर्भ मे विश्वशाति के बीज खोजे जा रहे है। यह दृष्टिकोण ही गलत है। ध्वस मे निर्माण की कल्पना असभव है।

विगत दो महायुद्धो मे ससार ने भली-भाँति अनुभव कर लिया है कि महासमरो द्वारा ससार मे सुख और शाति का साम्राज्य स्थापित नही किया जा सकता। जो ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य व कालुष्य व्यष्टि तक सीमित था वह उन दिनो राष्ट्रव्यापी हो चला था। प्रतिशोध की भावना स्वभावत विजित जनता मे होती है। विश्वशाति का उपाय क्या है और वह कैसे हो, इसकी चिन्ता विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टि सम्पन्न राजनीतिज्ञ कहाँ कर पा रहे है। यह मानना पडेगा कि आज समस्त राष्ट्र किसी न किसी सीमा तक अशात है। आणविक शक्ति ने और भी इस अशाति की ज्वाला को भडकाया है। पारस्परिक असहयोग व अविश्वास की भावनाएँ बढती जा रही है। आज का सेनापति अपने कमरे मे बैठकर युद्ध-नीति का सचालन करता है।

पुरातन काल मे रामायण, महाभारत के महायुद्ध हुए है। पर इनसे विश्वशान्ति पर कभी सकट के बादल नही मडराये। पर आज स्थिति भिन्न है। यदि आज कोरिया पर आक्रमण होता है तो विश्वशान्ति खतरे मे पड जाती है। काश्मीर, स्वेज या भारत द्वारा चीन पर आक्रमण होता है तो भी विश्वशाति सदेह की कोटि मे आ जाती है। तात्पर्य यह है कि एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र के प्रति तनिक भी असावधानी हुई कि तत्काल वह विश्वशान्ति का प्रश्न बन जाता है। परिताप की बात तो यह है कि भौतिक शक्ति के उन्माद मे उन्मत्त राष्ट्र अपनी शस्त्र शक्ति द्वारा शान्ति के स्वप्न सजोते है। नाना प्रकार के तर्क-वितर्को द्वारा स्वसिद्धान्त पोषणार्थ प्रयत्नशील है। वे यह सोचते है कि जो अधिक शक्ति सम्पन्न होगा उस पर आक्रमण

अंगड़ाईयां लेकर उपनिवेशवाद की बेड़ियों से मुक्त हुआ चाहते हैं—हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि पश्चिमीय सत्ताधीशों की वही पुरानी नीति रही तो नि संदेह पारस्परिक मानवीय सम्बन्धों की स्थिति संदिग्ध हो जाएगी। मानव इतिहास से यही शिक्षा ग्रहण करता है कि युद्ध या ऐसे ही घृणित विगत कार्यों से जो स्खलनाएं हुई हैं उनकी पुनरुक्ति न हो।

चर्चिल, रूजवेल्ट, स्टालिन, हिटलर, मुसोलिनी, टोजो और उनके अनुयायी महायुद्ध के लिए धर्म, ईश्वर और शांति की दुहाई दे रहे थे। अब अणु-अस्त्र के गर्भ में विश्वशांति के बीज खोजे जा रहे हैं। यह दृष्टिकोण ही गलत है। ध्वंस में निर्माण की कल्पना असंभव है।

विगत दो महायुद्धों में संसार ने भली-भांति अनुभव कर लिया है कि महासमरों द्वारा संसार में सुख और शांति का साम्राज्य स्थापित नहीं किया जा सकता। जो ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य व कालुष्य व्यष्टि तक सीमित था वह उन दिनों राष्ट्रव्यापी हो चला था। प्रतिशोध की भावना स्वभावत विजित जनता में होती है। विश्वशांति का उपाय क्या है और वह कैसे हो, इसकी चिन्ता विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टि सम्पन्न राजनीतिज्ञ कहां कर पा रहे हैं। यह मानना पड़ेगा कि आज समस्त राष्ट्र किसी न किसी सीमा तक अशांत है। आणविक शक्ति ने और भी इस अशांति की ज्वाला को भड़काया है। पारस्परिक असहयोग व अविश्वास की भावनाएँ बढ़ती जा रही हैं। आज का सेनापति अपने कमरे में बैठकर युद्ध-नीति का संचालन करता है।

पुरातन काल में रामायण, महाभारत के महायुद्ध हुए हैं। पर इनसे विश्वशान्ति पर कभी संकट के बादल नहीं मंडराये। पर आज स्थिति भिन्न है। यदि आज कोरिया पर आक्रमण होता है तो विश्वशान्ति खतरे में पड़ जाती है। काश्मीर, स्वेज या भारत द्वारा चीन पर आक्रमण होता है तो भी विश्वशांति संदेह की कोटि में आ जाती है। तात्पर्य यह है कि एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र के प्रति तनिक भी असावधानी हुई कि तत्काल वह विश्वशान्ति का प्रश्न बन जाता है। परिताप की बात तो यह है कि भौतिक शक्ति के उन्माद में उन्मत्त राष्ट्र अपनी शस्त्र शक्ति द्वारा शान्ति के स्वप्न संजोते हैं। नाना प्रकार के तर्क-वितर्कों द्वारा स्वसिद्धान्त पोषणार्थ प्रयत्नशील हैं। वे यह सोचते हैं कि जो अधिक शक्ति सम्पन्न होगा उस पर आक्रमण

करती। विश्वशान्ति का वास्तविक आधार तत्त्वचिन्तकों ने अहिंसा को ही माना है। भारत के प्राचीन इतिहास में इन पंक्तियों के समर्थन स्वरूप अनेक उदाहरण विद्यमान हैं।

श्रवण भगवान् महावीर ने अपनी सक्रिय अहिंसात्मक साधना के बल ही उस भयंकर विषधर को अपना वशवर्ती बना लिया था, जिसकी विषैली फूत्कारों से हरा-भरा प्रकृति का अनन्त सौन्दर्य भी असुन्दरता में परिणत हो गया था। मानव मात्र भूल से भी उस मार्ग का अनुगमन नहीं करता था। यदि कोई अपरिचित उस मार्ग पर पहुँच भी जाता तो उसकी विषाक्त फूत्कार से धराशायी हो जाता था। पशु-पक्षियों का मार्ग तो अवरुद्ध था ही, इन सब बातों के बावजूद भी अहिंसा के अमर पुजारी उस चण्डकौशिक विषधर की बाबी पर निर्भयतापूर्वक चले गये। उनके मन में सर्प के प्रति द्वेष या रोष की भावना नहीं थी। फलत साँप ने तो अपना काम किया ही, भगवान् महावीर के अंगुष्ठ पर डसा, जिसके फलस्वरूप रक्तधारा बहने पर भी वे वात्सल्यरस प्रेरित अत्यन्त शान्त भाव से ही खडे रहे। सर्प पर इसकी विपरीत प्रतिक्रिया हुई। उसे कुछ स्मरण आते ही वह पश्चाताप से अभिभूत हो उठा। उसका हृदय परिवर्तन हो गया और सदा के लिए अहिंसात्मक जीवन बिताने लगा।

ईसा मसीह को क्रॉस पर चढाने वालों के प्रति भी प्रेम और क्षमा भाव अहिंसा का उदाहरण है। एक गाल पर चाटा मारने वाले के समक्ष दूसरा गाल भी समर्पित करने का औदार्य इसी विचार का परिणाम है। पर आश्चर्य तो इस बात का है कि इसी ईसा मसीह के सत्तालोलुप्त अनुयायी अपने शास्ता के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाये हुए है, वह अत्यन्त लज्जाजनक है। क्या गिरजाघरों में की जाने वाली प्रार्थनाओं की ध्वनि उन्हें विश्व-वात्सल्य और विश्वबन्धुत्व की ओर उत्प्रेरित नहीं करती। हाँ, यह मानस शास्त्र का नियम अवश्य है कि मनुष्य को प्रेरणा या प्रोत्साहन तभी मिल सकता है जब उसकी चित्तवृत्ति या तो समत्व की ओर केन्द्रित हो या तद-नुकूल चित्तवृत्ति हो।

इसी प्रकार करुणावतार महात्मा बुद्ध, प्रह्लाद, ध्रुव व चैतन्यमहा-प्रभु आदि अनेक ऐसे स्फूर्तिदायक उदाहरण है, जो विरोधी के प्रति समत्व

वाहिनी रही है। विश्व-शान्ति के लिए भारतीय सेना का अधिकाधिक उपयोग वाछनीय है। चिन्तन की बात है कि जब जड पदार्थों मे भयकर विनाशलीला की शक्ति है, तो भला जीवित मानव की साधना मे कितनी तेजस्विता छिपी होगी ? जीवन को शुद्ध करने वाली अहिंसा ही सर्वांगीण विकास को अवकाश देती है। वह मानव को ऐसा दृष्टिकोण प्रदान करती है, जिससे सघर्ष और प्रतिहिसा ही समाप्त हो जाए। प्रसन्नता की बात है कि अमेरिका और रूस ने अहिंसा की दिशा मे चरण बढाने प्रारम्भ कर दिए है। वे अब अनुभव करने लगे हैं कि अणु अस्त्ररूपी दानव की समस्या अहिंसा द्वारा ही हल हो सकती है। अत अहिंसा शक्ति के अग्रदूत प० जवाहरलाल नेहरू को बार-बार आमन्त्रित किया जाता है। जहाँ किसी समय विदेशी आकाशवाणी द्वारा प० नेहरू के विरोध मे धुँआधार प्रचार किया जाता था, वहाँ आज इन्हे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का सन्देशवाहक माना जाने लगा है। किसी समय कहा जाता था कि भारत की भी क्या कोई नीति है ? पर आज भारत की नीति प्रशसा के साथ अनुकरणीय मानी जाती है।

अभी-अभी सन् 1960 मे आइजनहावर और ख्रुश्चेव भारत-यात्रा कर चुके है और भारतीय नीति की सराहना भी कर गये है। अणुशस्त्रो के स्वामियो को अपने आयुधो पर शान्ति स्थापन विषयक विश्वास होता तो वे कदापि भारतीय रीति-नीति का समर्थन नही करते।

अब भी यदि आयुद्धवादियो की श्रद्धा अणुशस्त्र द्वारा विश्वशान्ति स्थापित करने मे है, तो उनके सम्मुख सहज रूप से ये प्रश्न आते हैं—

1 अणुशस्त्र मार्ग से मानव जाति अहिंसा की ओर गतिमान न हुई तो खतरा मानने मे भी कोई सदेह रह जाता है ?
2 आणविक शस्त्रो के निर्माण, सरक्षण और प्रयोग करते समय दुर्घटनात्मक यदि विस्फोट हो गया तो क्या विश्वशान्ति पर सकट नही आयेगा ?
3 आयुद्ध निर्माण की पृष्ठभूमि मे रचनात्मक बुद्धि है या आक्रामक ? यदि रचनात्मक है तो क्या आप ईमानदारी के साथ कहने की स्थिति मे है कि हम कभी किसी भी राष्ट्र पर अणु-आयुद्ध प्रयुक्त नही करेंगे।

पच्चीस

हिंसात्मक उपायों से विश्व सुरक्षा के स्वप्न

आज के मानव के सम्मुख नानाविध समस्याएं है। उनको सुलझाकर जीवन-विकास के लिए अहिंसा का प्रयोग नितान्त आवश्यक हो गया है। यही एकमात्र रास्ता है जो जटिल से जटिल उलझनों को सुलझाकर सन्तुलित जीवन का सूत्रपात कर समाज मे साम्य स्थापित कर सकता है। यदि अब भी मानव हिंसक प्रवृत्तियो पर ही केन्द्रित है तो कहना होगा कि अरण्य मे जीवन-यापन कर उदरपूर्ति करने वाले मानव मे और सभ्य मनुष्य मे कोई मौलिक अन्तर नही रह जाएगा।

नृवंश शास्त्रियो का मन्तव्य है कि प्रागैतिहासिक मानव का जीवन बडा पेचीदा था। अहिंसा उन दिनो अविकसित थी। उसका जीवन आपसी संघर्ष, आशंका और भय के कारण सदैव अशान्त रहता था। वह सपरिवार रक्षार्थ समूह बनाकर रहा करता था। जीवनोपयोगी वस्तुओ की प्राप्ति के लिए एक-दूसरे समूह के बीच जो संघर्ष होता था उसमे कभी-कभी प्रस्तरास्त्रो का भी खुलकर प्रयोग होता था। उज्ज्वल भविष्य जैसी वस्तु उनके सम्मुख न थी। परास्त समूह को वह अपना दास बनाकर मन चाहा काम करवाता था। सभ्यता और संस्कृति का प्रवेश तात्कालिक जीवन मे नही था। उन दिनो जीवन सूत्र था 'मारो और जियो', 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का सिद्धान्त तात्कालिक जीवन मे साकार था। क्रमश सभ्यता और संस्कृति का विकास होते-होते अहिंसा उसके जीवन का अंग बन गई और आज तो मानव सभ्यता, संस्कृति और कला का धनी है। अहिंसा ने भी विकास किया है। एक दिन अपराधियो को भयंकर दण्ड दिए जाते थे पर आज हिंसक सजाएं अल्प हो गई है। सूली की सजा समाप्त है। कोडे की सजा कल्पना की वस्तु बन गई है। मृत्यु-दण्ड कई स्थानो पर बन्द हो

हासिक घटनाएँ भी मिल सकती है। यह तो एक माना हुआ तथ्य है कि बडे-बडे साम्राज्यो की स्थापना सदैव दुर्बल राष्ट्रो के शोषण से ही सम्पन्न हुई है। इसलिए अहिंसा की शक्ति को मर्यादित किया गया। केवल निर-पराध राष्ट्रो पर जान-बूझकर आक्रमण न करके राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए, अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए और प्रत्येक राष्ट्र को स्वय समर्थ बनाना अनिवार्य माना गया। फलत मानव ने क्षम्यरूप मे हिंसा को अपनाया।

यद्यपि मानव सभ्यता इतनी विकसित हो गई है कि विश्व के इतिहास ने महात्मा गाधी के अहिंसात्मक प्रयोगो द्वारा नया मोड लेने पर भी विवादो को सुलझाने के लिए अन्ततोगत्वा हिंसात्मक साधन ही प्रयुक्त होते है। इस सम्बन्ध मे उनकी कई बाते विचारणीय है।

1 अगर विगत विश्वयुद्धके बीच इग्लैण्ड, फ्रास तथा अन्य मित्रराष्ट्र शीघ्र ही युद्ध सामग्री एकत्र न करते तो निश्चय ही लोकतन्त्र तथा सभ्यता नाजियो के पैरो तले रौंदी जाती।

2 काश्मीर तथा भारतीय सेनाएँ काश्मीर मे कबालियो के आक्रमण का अवरोध न करती तो काश्मीर आज खण्डहर के रूप मे दृष्टिगत होता।

3 यदि भारत सरकार रजाकारो एव हैदराबाद राज्य के विरुद्ध पुलिस कार्यवाही न करती तो कथित उपद्रव सम्पूर्ण दक्षिण भारत मे फैल जाते।

4 इसी प्रकार उपद्रवी नागा लोगो ने जब शान्तिपूर्वक समझना न चाहा तब स्वर्गीय गृहमन्त्री पडित गोविन्दवल्लभ पन्त को उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही करनी पडी।

5 इण्डोनेशिया के युद्धो मे से भी यह बात प्रकट होती है। वहाँ के राष्ट्रदल तनिक भी दुर्बलता बताते तो विदेशियो का प्रभुत्व स्था-पित हो जाता। अर्थात् कोरिया मे अमेरिकन आधिपत्य स्थापित कर लेते और इण्डोनेशिया मे फासीसी।

6 इसी प्रकार भारतीय शासन कठोरता के साथ साम्यवादियो के

कवि गुरु की वाणी में—"आज की सभ्यता के शरीर पर जो मखमल की बनी हुई चिकनी पोशाक है, मगर उसके नीचे शस्त्र-अस्त्रों के क्षत चिह्न ढके हुए हैं।"[1]

आज का मानव भले ही अपने को सभ्य या अति सभ्य मान रहा हो, पर अपने जीवन मे वह सस्कृतिमूलक सभ्यता को कहाँ तक स्थान देता है यह सचमुच विचारणीय है। 'सभायां साधु सभ्य.', जो सभा मे बैठने योग्य हो, सज्जन हो, वही सभ्य है। इस कसौटी पर शायद ही कोई राष्ट्र खरा उतरे, जो हिंसा-निरत है। सभ्यता का तात्पर्य केवल बाह्य दृष्टि से धवल वसन, साधारण मिष्ट सभाषण और वाक्पटुता ही नही है, अपितु प्रत्येक प्राणी के साथ सुकुमार व्यवहार और उसका यथेष्ट विकास ही है और वह अहिंसा द्वारा ही सम्भव है। एक तर्क यह भी दिया जाता है कि महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर जैसे महात्माओ ने अपनी कठोर जीवन की साधना के बाद जो उपदेश दिया उससे कौन-सी हिंसक वृत्ति जगत मे समाप्त हो गई? उनके समय मे भी तो धर्म और सस्कृति के नाम पर भयकर हिंसाएँ प्रचलित थी। पर यह कोई तर्क नही है, क्योकि ससार मे काँटे सर्वत्र बिखरे हुए है, जो इनसे बचना चाहे, पदत्राण की व्यवस्था कर ले। ससार सही विचारधाराओ का केन्द्र रहा है। ससार के कई मसले अहिंसा के द्वारा हल हुए है। नादिरशाह, चगेजखॉ, हिटलर और कस, दुर्योधन तथा रावण द्वारा अपनाये गये घोर हिंसात्मक मार्ग से कोई समस्या सुलझी हो ऐसा अनुभव नही है। हिटलर के अप्रत्याशित आक्रमण से भी कोई राष्ट्र स्वेच्छया अपनी भूमि देने को तैयार नही था, पर ४० करोड जनता के अहिंसात्मक आन्दोलन के समक्ष ब्रिटिश राजसत्ता को नतमस्तक होना पडा। अत स्वाधीनता प्राप्ति और राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अहिंसा कतई अव्यावहारिक नही है। सेना पर किया जानेवाला विपुल व्यय अहिंसा के प्रयोगो पर किया जाए तो निस्सन्देह व्यक्ति समाज और राष्ट्र के लिए श्रेयस्कर हो सकता है। विश्व बन्धुत्व की सृष्टि हो सकती है, मारने की अपेक्षा, वीरत्व के साथ मरना कही ज्यादा अच्छा है। हिंसा साम्राज्यवाद

1 सभ्यतार अगे रासा मखमलेर चिक्कण पोशाक।
नीचे तार वर्म ढाका, अस्त्र आर शस्त्र छत पाग ॥

जेनेवा मे लीग आफ नेशन्स 'राष्ट्र सघ' की स्थापना की। ताकि भविष्य मे पारस्परिक युद्ध न हो और मिल-जुल कर आपसी वैमनस्य का निर्णय वार्तालाप द्वारा हो। पर यह सस्था अधिक समय तक जीवित न रह सकी। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी जैसे कतिपय राष्ट्रो से अन्यायपूर्ण व्यवहार होने के कारण उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ ऐसे व्यक्तियो का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होने 'लीग आफ नेशन्स' की स्पष्ट अवहेलना प्रारम्भ कर दी। लीग यो भी कोई शक्तिशाली सस्था तो थी नही जो उपद्रवियो पर साधिकार नियत्रण करती। इटली ने एवीसीनिया पर आक्रमण किया और लीग देखती रह गई। जर्मनी द्वारा छोटे-छोटे राष्ट्रो को हडपते देखकर लीग की स्थापना के ठीक 20 वर्ष बाद 1939 मे द्वितीय महासमर प्रारम्भ हो गया। इसमे जर्मनी, जापान और इटली एक तरफ थे और रूस, अमेरिका इग्लैण्ड तथा फ्रास दूसरी ओर थे। युद्ध-ज्वाला ससार मे फैल गई। भीषण नर सहार हुआ। युद्ध की समाप्ति के कुछ समय पूर्व 57 विजेता राष्ट्रो ने भविष्य मे इस प्रकार की सहारात्मक कार्रवाही रोकने के लिए 26 जून, 1945 मे अमेरिका के सानफ्रासिसको सम्मेलन मे सयुक्त राष्ट्र सघ की नीव पडी। मानव दुखानुभूति से अभिभूत था। अत सावधान था कि 'लीग ऑफ नेशन्स' की त्रुटियाँ इसमे कही न रह जाएँ।

सयुक्त राष्ट्र सघ दो विभागो मे विभक्त है—

1 सुरक्षा परिषद्। 2 महासभा

चीन, रूस, इग्लैण्ड, अमेरिका और फ्रास सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य बने। जिसका स्वरूप लोकतन्त्रात्मिक सरकार के समान बनाया गया। इसमे अन्य सभी देशो से 6 अस्थायी सदस्य प्रति दो वर्ष के बाद महासभा द्वारा चुने जाते है। इस प्रकार 11 सदस्यो की यह समिति है। वर्तमान मे सदस्यो की राज्यो सख्या 100 है। केवल लोक-गणराज्य चीन और उत्तरी कोरिया को अभी तक मान्यता प्राप्त नही है। इन पक्तियो को लिखते समय हेमरशोल्ड की मृत्यु के बाद सयुक्त-राष्ट्रसघ की समिति मे एक प्रस्ताव आया है कि चीन को भी इसका सदस्य बनाया जाय।

सुरक्षापरिषद् के 5 स्थायी सदस्यो को विशेषाधिकार प्राप्त है। जिसका अभिप्राय है कि प्रत्येक निर्णय पर पाँचो की सहमति आवश्यक है। किसी

आदि की समस्याओं को सुलझाने में संयुक्त राष्ट्र संघ ने बहुत प्रयत्न किया है। निःशस्त्रीकरण योजनाओं को क्रियान्वित करना तो उसका प्रमुख अंग ही रहा है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के दो प्रमुख अंगो की पूर्ति के लिए आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, संयुक्त राष्ट्र संघ सचिवालय, सैनिक कर्मचारी समिति, संयुक्त राष्ट्र सहायता एवं पुनर्वास प्रशासन, संयुक्त खाद्य एवं कृषि संगठन, संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, स्वास्थ्य संगठन एवं निःशस्त्रीकरण आयोग आदि संगतमय प्रयत्न है।

जहाँ अहिंसा के द्वारा विश्व-शांति सम्पादित करने का प्रश्न है। संयुक्त राष्ट्र संघ उसके एक अंग की पूर्ति करता है। क्योंकि संघ ऐसी शक्ति रखता है जहाँ से वैर-विरोध की भावनाओ को प्रोत्साहन न मिलकर शमन के मार्ग सुझाए जाते है। विभिन्न दृष्टिकोणो मे सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्नो को यहाँ वल मिलता है। विश्व के राष्ट्रो का मतसंग्रह हो जाता है और यदि कोई वडा राष्ट्र किसी वात का विरोध करे तो उसे कार्यान्वित करने का अवसर नहीं मिलता। अंग्रेजो ने स्वेज नहर पर जब आक्रमण किया तो विश्वलोकमत विरुद्ध होने के कारण उस युद्ध की स्वतः समाप्ति हुई थी। हम यह नही कहने जा रहे है कि संयुक्त राष्ट्र संघ सभी स्थानों पर सफल ही रहा। क्योंकि सन् 1946 के वाद वहुत-सी ऐसी घटनाएँ विश्व के पटल पर अंकित हुई जिनमे आशावादियो को विश्वास था कि संयुक्त राष्ट्र संघ इनमे कृतकार्य होगा पर 'लीग ऑफ नेशन्स' की भाँति वह विश्व-शांति स्थापित करने मे असफल भी रहा। फिर भी यह स्पष्टतया स्वीकार करना ही पडेगा कि छोटी-मोटी वातो को लेकर उठने वाली ज्वालाओ को संयुक्त राष्ट्र संघ ने आगे वढने से रोका या किसी सीमा तक सुलझाने का प्रयत्न किया। फिलिस्तीन, काश्मीर, कांगो और इण्डो-नेशिया इसके प्रमाण है। लीग की तुलना मे संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य अधिक है। कार्यविधि पुष्ट और प्रभावोत्पादक है।

विश्वशान्ति के बहुमान्यक तथ्यो मे एक यह भी सर्वाविश्यक है कि विभिन्न राष्ट्रो मे पारस्परिक सद्भावना और विश्वास की अभिवृद्धि हो और यही

1 एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सार्वभौमिकता का सम्मान।
2 पारस्परिक अनाक्रमण।
3 एक दूसरे राष्ट्र के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करना।
4 एक दूसरे की समानता की मान्यता प्रदान करना तथा परस्पर लाभ पहुचाना।
5 शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को अपनाना।

इन सिद्धान्तो के समर्थन मे पौर्वात्य देशो के प्रधान मत्रियो मे पुष्टि की होड-सी लग गई। 25 सितम्बर को इण्डोनेशिया के प्रधान मत्री ने और 19 अक्तूबर, 1954 को वियतनाम के मुख्यमत्री ने इन्हे स्वीकार किया। 29 दिसम्बर, 1954 को भारत, बर्मा, लका और इण्डोनेशिया के प्रधान मत्रियो का विचार-विमर्श हुआ और अन्त मे 24 अप्रैल, 1955 को वाण्डुग नामक स्थान मे एशिया के 29 राष्ट्रो का सम्मेलन हुआ जिसमे पचशील का स्पष्ट समर्थन किया गया और विश्वशान्ति के लिए उन्हे आवश्यक माना। मानव के मूलाधिकारो के प्रति निष्ठा प्रकट करते हुए कहा गया कि सामूहिक परिरक्षा के लिए कोई राष्ट्र दलबन्दी न करे। 19 फरवरी, 1955 को रूस की सर्वोच्च सोवियत ने न केवल पचशील के परिपालन पर जोर ही दिया अपितु तीसरे शील आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त की व्याख्या और बढाते हुए कहा कि किसी भी देश के आन्तरिक मामलो मे आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक के अतिरिक्त वैचारिक प्रसारण मे भी किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न हो। पश्चिमी राष्ट्रो के लिए सोवियत रूस की यह घोषणा एक समस्या बन गई। पश्चिमी राष्ट्र रूस पर प्राय यही आरोप लगाते हैं कि उसने अन्य देशो के साम्यवादियो के साथ साँठ-गाँठ करके विद्रोहाग्नि भडकाकर विध्वसात्मक कार्यों को प्रोत्साहित करने वाली साम्यवादी विचारधारा का प्रचार करने के लिए ही सूचित सशोधन किया है। पर इसमे शक नही यदि प्रामाणिकता के साथ रूस के सशोधन पर अमल किया जाता तो कम से कम शीतयुद्ध के आतकपूर्ण वातावरण मे अवश्य सुधार होता।

इसके पश्चात् 2 जून, 1955 को रूस और यूगोस्लाविया की सामूहिक घोषणा, 22 जून, 1955 को नेहरू, बुलगानिन सयुक्त उद्घोषणा, 3 नवम्बर

से बता दिया। अतः विश्वशान्ति के लिए उनके चरण-चिह्नों पर चलना अनिवार्य है। तदर्थ निम्न सिद्धान्त प्रेक्षणीय हैं—

1 विश्व के सभी राष्ट्र मिलकर परस्पर आर्थिक व सांस्कृतिक सहयोग करें।
2 संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मान्य मानवीय अधिकार पत्र सभी राष्ट्र अपनावें।
3 विश्व मे रंग-भेद और जाति-भेद समाप्त हो।
4 प्रत्येक राष्ट्र अपनी स्थिति के अनुसार सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था के लिए स्वतन्त्र रहे।
5 अणु शक्ति पर सामूहिक नियंत्रण हो व आणविक आयुध-परीक्षण सर्वथा बन्द किये जायें।
6 उपनिवेशवाद की समाप्ति हो।
7 सभी राष्ट्रों को समानता का अधिकार प्राप्त हो।
8 सैनिक गुटबन्दी समाप्त कर आक्रमण बन्द हो।
9 पारस्परिक विवादो का निपटारा पंचायत या सहयोग के आधार पर हो।
10 पंचशील के सिद्धान्तो को सभी राष्ट्र स्वीकार करें एवं 'स्व' और 'पर' उत्कर्ष मे संलग्न रहे।

उपर्युक्त दस सूत्री अहिंसात्मक उपायो पर यदि ईमानदारी से ध्यान दिया जाय तो उत्पीड़ित राष्ट्र मे विश्वशान्ति का संचार हो सकता है।

भी प्राणी को न सताता है, न मारता है और न दुःख ही देता है। यही अहिंसा का सिद्धान्त है। इसी मे विज्ञान का अन्तर्भाव हो जाता है।[1]

शक्ति और साधनो के आधार पर पुरातन कालिक वैज्ञानिक गवेषको ने सूचित किया है कि विज्ञान को जितना प्रोत्साहन दिया जाय, दिया जाना चाहिए। पर वह सहारकशक्तिविहीन हो। भगवान् महावीर ने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति पर स्वैच्छिक नियन्त्रण लगाते हुए विवेक, यतना और सोप-योग निवृत्ति मूलक प्रवृत्ति का सकेत किया है। पाश्चात्य दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल ने कहा है "मनुष्य को कानून और आजादी दोनो चाहिए, कानून उसकी आक्रमणकारिता एव शोषक भावनाओ को दबने के लिए और स्वाधीनता रचनात्मक भावनाओ के विकास व कल्याण के लिए।"

प्रत्येक राष्ट्र यह चाहता है कि वहाँ के नागरिक सुशील, चरित्र-सपन्न और नीतिमत्तापूर्ण जीवन-यापन करने वाले हो। आक्रामक प्रवृत्तियो को रोकने या अकुश लगाने के लिए राष्ट्र कानून बनाता है ताकि अनिष्ट प्रवृ-त्तियो को पनपने का अवकाश न मिले। साथ ही नागरिको की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ अत्यधिक विकसित हो—यह भी शासक का कर्तव्य है। तभी विज्ञान की आवश्यकता पडती है। रचनात्मक जीवन को प्रोत्साहन तभी मिल सकता है जब उसका पारिवारिक जीवन सुखी और समृद्धिशाली हो। यह राष्ट्र की शान्तिवादी नीति द्वारा ही सभव हो सकता है।

ससार मे विष और अमृत विद्यमान है। मनुष्य इतना अवश्य जानता है कि मेरे लिए ग्राह्य क्या है? वस्तुत विष विष है तो भी दृष्टि-सम्पन्न मानव इसमे अमृत का काम ले सकता है। सखिया तीव्र विष है पर यदि इसमे से प्राण हानि करने वाले तत्त्वो को निष्कासित कर उपयोग मे लाया जाय तो वह अमृत बनकर रोगोपशान्ति के साथ देह को सुन्दर और सुदृढ बना देगा। तात्पर्य, हेय मानी जाने वाली वस्तुओ मे से नि सार तत्त्व पृथककर दिए जाएँ तब वे भी अमृतोपम सिद्ध होती है। यह सब लिखने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रत्येक वस्तु या सिद्धान्त के प्रति मानव का विशिष्ट

---

1 एव खु नाणिणो सार जन हिंसइ किचण।
अहिंसा समय चेव एयावन्त वियाणिया॥
—सूत्र कृताग 1।1।4।10

अट्ठाईस

आधुनिक विज्ञान का रचनात्मक उपयोग

जैसा कि पहले सूचित किया जा चुका है कि विज्ञान का भला-बुरा प्रयोग मानव के दृष्टिकोण पर अवलम्बित है। सुख-समृद्धि की अभिवृद्धि के लिए किए गए प्रयोग शान्ति स्थापित कर सकते हैं। पर यदि स्वार्थ प्रेरित भावना से इसका उपयोग किया गया तो यह विध्वंसात्मक और नर-संहारक भी प्रमाणित होता है।

रेडियम ससार की एक ऐसी बहुमूल्य धातु है जिसके छोटे से अणु अर्थात् एक माशा के हजारवे भाग मे ऐसी शक्ति है जो विशाल भवन को प्रकाश प्रदान कर सकती है। यदि भविष्य मे रेडियम बहुलता से उपलब्ध होगी तो शायद विद्युत् की आवश्यकता नही रह जायेगी। क्योकि रेडियम के अणु दीवाल पर प्लास्टर के साथ लगा दिये जायेगे तो उसका प्रकाश आवश्यक कार्यों को सुचारुतया सम्पन्न कर सकेगा। यन्त्रोद्योगो मे हजारो टन कोयलो का कार्य दो माशा रेडियम ही कर देगा। किन्तु विश्व मे रेडियम की मात्रा दस-ग्यारह तोलो से अधिक नही है। इग्लैण्ड के विशाल चिकित्सालय मे केवल पन्द्रह माशा ही उपलब्ध है। भारत मे पटना के अतिरिक्त कही भी रेडियम द्वारा चिकित्सा की व्यवस्था नहीं है। इसका मूल्य बीस लाख यानि स्वर्ण से चौबस हजार गुना अधिक है। इस अल्पता के कारण कृत्रिम रेडियम निर्माण की सफल चेष्टा वैज्ञानिको ने की है। इसकी ऊष्मा से कई असाध्य रोग सुसाध्य की कोटि मे आते देखे गये हैं।

अणु की तापीय शक्ति का सृजनात्मक उपयोग सफलता के साथ करने के लिए यदि यत्न किया जाय तो ईंधन की समस्या सुलझ सकती है। यातायात के साधनो को इस ऊष्मा से अधिक सक्षम बनाया जा सकता है। रोगो पर भी काबू पाया जा सकता है। वैज्ञानिको का तो दावा है कि वे इसके द्वारा मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेंगे और यह सब तभी सभव

उनतीस

अहिंसक प्रयोग के हेतु धर्म और विज्ञान में सामंजस्य हो

यह सर्व स्वीकृत तथ्य है कि मनुष्य स्वभावत प्रगतिशील प्राणी है। इसीलिए विज्ञान द्वारा प्राकृतिक शक्तियो की क्षमता की खोज कर सका। पर, परिताप इस बात का है कि वह भौतिक शक्तियो पर विजय प्राप्ति मे इतना लीन हो गया है कि आत्मिक शक्तियो को भी विस्मृत कर बैठा। यहाँ तक कि वह अपने-आपको इतना अधिक शक्ति सम्पन्न समझने लगा कि परमात्मा, महात्मा, ईश्वर आदि अज्ञात शक्तियो को भी नगण्य मानने लगा। श्रद्धा का अश जीवन से विलुप्त हो गया। वह एक प्रकार से हक्सले के इस सिद्धान्त का अनुगामी बना कि ईश्वर आदि अज्ञात तथ्य मानवीय चिन्तन की अपूर्णता के द्योतक है। वह मानता है कि मनुष्य को समुचित या पौष्टिक खाद्य उचित मात्रा मे न मिलने के कारण उन लोगो मे विटामिन की कमी थी। मानसिक शक्ति दुर्बल हो गई थी। तभी वे ज्ञात वस्तुओ को छोड अज्ञात के चिन्तन मे लीन हो गये। फलस्वरूप दौर्बल्य के कारण वे परमात्मा या अज्ञात शक्ति के लिए प्रलाप करने लगे। नही कहा जा सकता कि हक्सले के इस तर्क मे कितना तथ्य है, पर यह तो बुद्धिगम्य है कि इस चिंतन की पृष्ठभूमि विशुद्ध भौतिक है। अहिंसा या अध्यात्म प्रधान दृष्टिकोण से चिन्तन किया जाय तो उपर्युक्त विचारो मे सशोधन को पर्याप्त अवकाश मिल सकता है। भारत तो सदा मे श्रद्धा और ज्ञान मे विश्वास करता आया है। इन दोनो के अभाव मे जीवन तिमिराच्छन्न हो जाता है। विज्ञान के द्वारा बढी हुई स्वार्थपरायण वृत्ति की खाई को अहिसा द्वारा ही पाटा जा सकता है। तात्पर्य है कि धर्म और विज्ञान मे सामजस्य स्थापित हो। यद्यपि विशुद्ध तत्त्वज्ञान की दृष्टि मे विचार किया जाय तो धर्म का, विज्ञान से

[illegible] आत्मभूमि से स्पर्श करता हो,
[illegible] को तुष्ट करता हो।

आज का जीवन एक ओर भौतिक [illegible] धर्म के मर्म से बहुत दूर या उदासीन है। धर्म की कोई [illegible] मर्यादाएँ बोझ-सी प्रतीत होती है। इसलिए कि मर्यादाओं के प्रति जो मानव का विशद दृष्टिकोण था वह शुष्क विज्ञान की प्रगति के कारण दिनानुदिन विलुप्त हुआ जा रहा है। एक समय था धर्म को श्रद्धा के द्वारा ग्रहण किया जाता था पर आज धर्म को विज्ञान या बुद्धि द्वारा ग्राह्य तत्त्व समझा जा रहा है। जहाँ तक चिन्तन का प्रश्न है यह ठीक है कि ससार की प्रत्येक ग्राह्य वस्तु बौद्धिक कसौटी पर कसने के बाद ही आत्मस्थ की जानी चाहिए। पर वह चिन्तन और बौद्धिक चातुर्य व्यर्थ है जिससे चिन्तित तथ्य को जीवन मे साकार नही किया जा सकता। आचार-मूलक श्रद्धान्वित ज्ञान ही वास्तविक चिन्तन का प्रतीक होता है। उत्कर्ष मूलक तथ्य केवल मानसिक जगत की वस्तु नही है, वह लोक कल्याण की वस्तु होती है। यदि मस्तिष्क द्वारा चिन्तित वैज्ञानिक तत्त्वो को अहिंसा-मूलक परम्परा द्वारा जीवन मे प्रस्थापित किया जाय तो नि सन्देह इन दोनो के सामजस्य से न केवल मानवता ही परितुष्ट होगी, अपितु भविष्य मे और भी सुखद परिणाम आ सकते है। शक्ति बुरी चीज नही है, पर शक्ति का वास्तविक रहस्य उचित प्रयोगता पर निर्भर होता है। रावण और हनुमान शक्ति सम्पन्न व्यक्ति थे। रावण के पास धर्म रहित वैज्ञानिक शक्ति थी तो हनुमान के पास धर्म सयुक्त शक्ति। रावण की शक्ति स्वार्थ साधना मे प्रयुक्त हुई तो हनुमान की शक्ति सेवा और साधना का ऐसा प्रतीक बनी कि आज भी उन्हे अविस्मरणीय कोटि मे स्थान दिया गया है। धर्ममूलक वही शक्ति स्मरणीय होती है जो सुदृढ, स्वस्थ, प्रेरणाप्रद और ऊर्ज्वस्वल परम्परा का सूत्रपात कर सके।

आज की वैज्ञानिक प्रगति की दौड मे मानव ने क्या-क्या पाया और क्या-क्या खोया ? इसके विवेचन का यह स्थान न होते हुए भी इतना लिखने का लोभ सवरण नही किया जा सकता कि ज्ञान खोकर विज्ञान पाया। श्रद्धा खोकर अभिज्ञता पाई। आचार खोकर बौद्धिक क्षेत्र का

विज्ञान की संधि हिंसा के साथ

जीवन के किसी भी क्षेत्र मे विकास करने के लिए गम्भीर चिन्तन या मार्ग मे आने वाली बाधाओ का सूक्ष्म परिज्ञान अनिवार्य है। दूरदर्शिता, पूर्ण प्रगति मानव को स्थायी जगत की ओर आकृष्ट करती है। आज का मानव विना किसी गम्भीर परिणाम पर गम्भीर विचार किये ही दो टूक निर्णय चाहता है। विश्व-शाति की निष्पत्ति के लिए भी यही मार्ग अपनाया प्रतीत होता है। तभी तो हिसा के सहारे आज विज्ञान पनप रहा है। इस प्रकार की विश्व-शाति को यदि 'श्मशान की शाति' की सज्ञा दी जाय तो अत्युक्ति न होगी और इस हिसा सयुक्त विज्ञान की सहार लीला देखकर सहसा भस्मासुर का आख्यान मानस पटल पर अकित हो जाता है।

यह अनुभव मूलक सत्य है कि ससार मे पारस्परिक वैमनस्य वढाने वाले शत्रुओ मे सवसे वडा और निकट का शत्रु सजातीय ही होता है। मानव समाज के लिए भयकर विनाश का यदि भय है तो और किन्ही प्राणियो से न होकर अपने सजातीय वन्धुओ से ही है। मानव की स्वार्थलिप्त हिसा वृति ने विगत युद्धो मे जिस सहार लीला का प्रदर्शन किया है उससे कैसे आशा की जाय कि वह विश्वशाति के जनक या मानव परित्राता का स्थान ग्रहण करेगी। इसमे भी, कहना चाहिए कि शस्त्रो की अपेक्षा मनुष्य की हिसा वृत्ति ही प्रधान है। स्वार्थान्ध राष्ट्र प्राणियो की कोमलता का अनुभव नही कर सकते। मानवीय सौन्दर्य की व्यापकता पर उनका ध्यान नही जाता। वे तो केवल विश्व को अपनी प्रचण्ड सहार-शक्ति के द्वारा या पाशविक शक्ति द्वारा प्रभावित करना चाहते है कि यदि हमारा सर्वांगीण आधिपत्य स्वीकार नही किया तो उनका जीवित रहने का अधिकार हम छीन लेगे।

एक वार कतिपय अग्रेज चिडियाघर देखने गये, वहाँ सिंह और भेडिए आदि गुर्राते, दहाडते नजर आये। उनकी इस प्रकृति पर अग्रेजो

अहिंसा का स्वरूप

अहिंसा का उदय

अहिंसा शब्द का प्रयोग कब से और क्यों होने लगा, तथा जन-जीवन में अहिंसा की प्रबल वेगवती भावना का उदय कब से हुआ, यह बतलाना तो असंभव है। हाँ, साहित्य तथा कल्पना लोक में भले ही इसका कुछ अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु इसकी सुनिश्चित रूप-रेखा खींचना टेढी खीर है। इतना तो हम अवश्य कहेंगे कि यह अहिंसा अनादि और अनन्त है। किसी भी काल विशेष में इसके अभाव की कल्पना नही की जा सकती।

विश्व के सभी दर्शनो ने अहिंसा को प्रधानता प्रदान की है परन्तु जैन दर्शन के लिए तो अहिंसा प्राणभूत तत्त्व है। अथवा यो कहना चाहिए कि इसकी विशद व्याप्ति मे ही सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सभी व्रतो का समावेश हो जाता है। धर्म का मौलिक स्वरूप अहिंसा है और सत्य आदि उसका विस्तार है। इसीलिए जैन दर्शन के एक महान् आचार्य ने एक स्थान पर कहा है "अवसेसा तस्स रक्खट्ठा" शेष सभी व्रत अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं। जैसे अर्थ की रक्षा के लिए तिजोरी की आवश्यकता रहती है। उसके बिना अर्थ सुरक्षित नही रह सकता। उसी प्रकार अहिंसारूपी धन की रक्षा के लिए इतर व्रत तिजोरी के सदृश है। साराश यह है कि अहिंसा व्रत के अतिरिक्त जो व्रत है वे सारे अहिंसा तत्त्व के ही पोषक है। वे उनसे कभी भी अपना अस्तित्व अलग-थलग नही कायम कर सकते। बल्कि अहिंसा भगवती के ही सरक्षण होकर रहते है।

अहिंसा की परिभाषा

अहिंसा का विशद स्वरूप समझने के पूर्व अहिंसा क्या है, और उसकी परिभाषा क्या हो सकती है? इसको जानना आवश्यक है। यो तो हमारे यहाँ सभी धर्मों ने अहिंसा की विभिन्न व्याख्याये की है, जिनमे [illegible]

अहिंसा की शक्ति बढ़ानी है

[illegible] उत्तर देने की अपेक्षा [illegible] गांधी ने अहिंसा के प्रयोगों द्वारा [illegible] स्वाधीनता का अनुगामी बनाया, जहाँ [illegible] शासन द्वारा हिंसात्मक प्रयोग कम नहीं किये गए। [illegible] अहिंसा द्वारा प्राप्त आत्मबल का राजनैतिक प्रयोग कितना सफल रहा यह कहने की बात नहीं है, जनता-जनार्दन ने स्वयं अनुभव किया है। गांधी युग की स्वाधीनता की देन तो चिरस्मरणीय घटना है ही पर इससे भी अधिक गांधी के दर्शन से स्वाभावत जो अहिंसात्मक वायु-मण्डल की विश्वव्यापी सृष्टि हुई है वह अधिक मूल्यवान है। उनकी राजनीतिक अहिंसा ने कम से कम ऐसी स्थिति तो उत्पन्न कर ही दी है कि आज हमे अहिंसा और उसकी समर्थ शक्ति के लिए विश्व को अधिक समझाने की आवश्यकता नही है। जहाँ कार्य शक्ति प्रत्यक्ष रूप मे साकार खडी है, वहाँ वाणी को विकसित करने की विशेष आवश्यकता नही रह जाती। हिंसा की रोकथाम के लिए और साथ ही अहिंसा की शक्ति को बढाने के लिए प्रथम उपाय है—धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षा का प्रसार। इस शिक्षा का अभिप्राय किसी सम्प्रदाय या पथ के अमुक ग्रन्थो को रट लेना नही, वरन् धर्म के उन उदार, उदात्त और दिव्य सिद्धान्तो से परिचित और अभ्यस्त होना है, जिनसे व्यक्ति, व्यक्ति न रहकर विशाल विश्व बनता है। उसका 'अह' सकीर्ण दायरे से बाहर निकलकर भूत-मात्र मे परिव्याप्त हो जाता है। व्यक्ति की सवेदना, करुणा और सहानुभूति चीटी से लेकर कुजर तक फैल जाती है। मनुष्य का दृष्टिकोण निर्मल और श्रेयोगामी बनता है।

इस प्रकार की धर्मशिक्षा मानव को बाल्यकाल से ही मिलनी चाहिए, ताकि विज्ञान का उपयोग करते समय वह हिताहित मे विवेक रख सके, कार्याकार्य की छटनी कर सके, उसके पास उचित अनुचित के निर्णय की एक अभ्रान्त कसौटी हो और वह अहिंसा को प्रोत्साहन देने वाले पदार्थों के अतिरिक्त प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हिंसावर्द्धक पदार्थों को कतई न अपनाए।

धर्म-शिक्षा विभिन्न मत-पथो मे प्रचलित निष्प्राण रूढियो को समझ लेना नही है। जीवन और उसके वास्तविक ध्येय की पहचान इसी शिक्षा से

[illegible] और [illegible] है और उनके कारण [illegible], [illegible], [illegible], भोगी आदि पाप [illegible] है, [illegible] नहीं करेगा।

[illegible] उपयोग करेगा, जिससे गरीबों को [illegible], [illegible] शोषण न हो, महारंभी (यन्त्रोत्पन्न) वस्तुओं [illegible] विवेक को ओझल नहीं होने देगा। वह महाहिंसा के द्वार पर नहीं जाएगा।

आज यही [illegible] की धर्म-शिक्षा न मिलने और धर्म पालन मे विवेक न होने के कारण प्राय प्रत्येक धर्म के लोग अहिंसा को स्वीकार करते हुए भी ऐसे पदार्थों का उपयोग करते है जो फैशन, विलास, बेकारी और आलस्य बढाने वाले है, सादगी और सयम को नष्ट करने वाले है। किन्तु जहाँ मूल मे ही अधर्म है, वहाँ धर्म और धर्म के फल की क्या आशा की जा सकती है ?

अतएव यन्त्रो मे निष्पन्न प्रत्येक वस्तु का उपयोग करने से पूर्व अहिंसा-व्रती को विवेक करना होगा। तभी अहिसा की शक्ति बढेगी। केवल '**अहिंसा परमो धर्म**' का नारा लगाने से, अहिंसा भगवती की मूर्ति बनाकर पूज लेने से या अहिंसा के उपदेश की स्तुति अथवा पूजा कर लेने मात्र से अहिंसा की शक्ति नही बढ सकती। शुष्क चर्चा निरर्थक है। अहिसा शोध-पीठ बनाकर उसकी शोध नही की जा सकती। जीवन व्यवहार के द्वारा ही उसकी प्रतिष्ठा हो सकती है।

इस प्रकार यदि समाज के विभिन्न क्षेत्रो मे हो रही महाहिंसा की रोक-थाम की गई और नवीन-नवीन अहिसा के प्रयोग जारी रखे गये तो अहिसा की शक्ति बढेगी, इसमे कोई सदेह नही। अहिंसा की शक्ति बढने पर ही मानव जाति की सजीवनी शक्ति बढेगी।

[illegible] के लिए हमें अहिंसा का
[illegible] दबाव
द्वारा [illegible] आभास हो सकता है, परन्तु वास्तविक
[illegible] नहीं [illegible]। समाज में स्थायी परिवर्तन लाने के लिए
हमें अहिंसा [illegible] त्रिपुटी को अपनाना होगा। विचार-शक्ति द्वारा [illegible] हृदय में परिवर्तन होगा, शनै-शनै व्यापक रूप में उन विचारों के फैल जाने पर समाज का विचार-परिवर्तन होगा। फिर भी सारा समाज उन विचारों के अनुसार व्यवहार नहीं करने लगेगा। उसके लिए परिस्थिति में परिवर्तन लाना आवश्यक होगा।

परिस्थिति-परिवर्तन के लिए अहिंसा के दो प्रकार के प्रयोग करने होंगे—प्रतिकारात्मक और विधेयात्मक। इन दोनों प्रकार के प्रयोगों में अहिंसा भगवती के दोनों चरणों—संयम और तप का उपयोग होगा। तभी परिस्थिति में परिवर्तन होगा और अन्त में सरकारी कानून भी उस पर अपनी मुहर लगाने आजाएगा। एक उदाहरण से हमारा भाव स्पष्ट हो सकेगा।

मान लीजिए, किसी गाँव में 20 बुनकर परिवार हैं। वे बुनाई का धन्धा करते हैं। परन्तु मिल का कपड़ा गाँव में फैल जाने से उनका व्यवसाय ठप हो गया है। वे बेकार और बेरोजगार हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में ग्राम के अहिंसा प्रेमी विचारक ग्रामवासियों को अपने अहिंसा सम्बन्धी विचार समझाएँगे। कहेंगे मिल के बने वस्त्र खरीदकर गाँव के लोगों को भूखा मारना हिंसा है। अहिंसा इसी में है कि आप बुनकर भाइयों के हाथ के बने वस्त्र ही खरीदें, फिर भले ही वे महँगे ही क्यों न हों।

यह विचार उनके गले तक तो उतर जाएगा परन्तु आर्थिक पहलू और सामाजिक प्रतिष्ठा उनमें से बहुतों को तदनुसार व्यवहार करने से रोकेगी। किन्तु जिनका हृदय परिवर्तन हो चुका है और जो अहिंसा के महत्त्व को समझ चुके हैं वे निष्क्रिय होकर नहीं बैठेंगे। वे ग्राम सभा में अपने विचार प्रस्तुत करेंगे। सभा इस बात को स्वीकार करेगी और उसकी स्वीकृति नियम का रूप धारण कर लेगी। अगर कोई उस नियम को भी चुनौती देगा और प्रेमपूर्वक समझाने पर भी नहीं मानेगा तो अहिंसक शुद्धिप्रयोग

लेकिन यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि प्रत्येक पक्ष सदा सर्वदा पंचनिर्णय को स्वीकार कर ही लेगा। जब ऐसी स्थिति सामने आए तो पंचनिर्णय से आगे का कदम उठाना होगा और वह होगा सत्याग्रह-प्रयोग और शुद्धि प्रयोग।

जब किसी विचार धारा का सामूहिक रूप मे प्रचार करके उसे क्रियान्वित कराना होता है अथवा किसी पर अन्याय-अत्याचार करके कोई व्यक्ति मध्यस्थ के निर्णय को स्वीकार करने को तैयार नही होता है, तब अहिंसक शुद्धि प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। अहिंसक शुद्धि-प्रयोग की अनिवार्य शर्त यह है कि दोषी व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार का द्वेष, क्रोध या उसे नीचे दिखाने का आशय न हो। केवल उसकी आत्मा पर आये हुए स्वार्थ के आवरणो को दूर करने के पुनीत हेतु से, उसके हृदय को निर्मल बनाने के लिए, उसकी अन्तरात्मा के साथ अपनी आत्मा का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए और इस प्रकार उसके विवेक को जागृत करने की पवित्र और शुद्ध भावना से 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की दृष्टि से स्वय, तप, त्याग, करना चाहिए। वातावरण को जगाने के लिए सहायक उपवासियो के द्वारा भी उपवास किया जाता है तथा प्रार्थना, धुन, प्रवचन, प्रभातफेरी आदि उपायो द्वारा भी समाज का ध्यान उक्त विचारधारा या वस्तु की ओर केन्द्रित किया जाता है। समाज के बहुभाग जनो की सहानुभूति उस विचार के पक्ष मे जागृत करनी होती है, तब दोषी व्यक्ति, समूह या समाज का हृदय हिल उठता है। उसके हृदय मे न्याय सगत विचार उत्पन्न होता है, उसका विवेक अगडाई लेता है और वह न्याय्य पथ पर आ जाता है।

गाधी युगीन विज्ञो ने सत्याग्रह के चार विभाग किये हैं—(१) सविनय असहयोग, (२) सविनय कानून भग, (३) पिकेटिंग और (४) वैयक्तिक उपवास। गाधीजी ने ब्रिटिश शासन काल मे सत्याग्रह का कई बार प्रयोग किया और सफलता भी प्राप्त की। उस समय विदेशी राज्य था और कानून के निर्माण मे जनता की सम्मति नही ली जाती थी। इस कारण कानून-भग भी न्यायसगत था, लेकिन आज भारत मे लोकतत्रीय राज्य है और प्रजा के बहुमत के आधार पर कानून बनाये जाते हैं, अतएव अब सत्याग्रह मे कानून भग को स्थान नही दिया जा सकता।

किन्तु बड़े-बड़े युद्धों का, जिनमें करोड़ों की जान जाती है, लाखों बीमार और अपाहिज हो जाते है, धन-सम्पत्ति की अपार क्षति होती है, किस प्रकार प्रतिकार किया जा सकता है ? यह एक विकट समस्या है। परन्तु यह निश्चय है कि हिंसा की अपेक्षा अहिंसा अधिक क्षमताशालिनी है। अतएव उग्र से उग्र और प्रचण्ड से प्रचण्ड हिंसा का भी अहिंसा से मुकाबला किया जा सकता है। पर यह ध्यान रखना होगा कि औषध रोग के मुकाबले अधिक उग्र हो। अगर विश्व के प्रत्येक राष्ट्र मे निष्ठावान् शाति-सैनिक पर्याप्त सख्या मे फैले होगे तो वे महायुद्धो पर भी विजय प्राप्त कर सकेगे। उनके शाति प्रयास ऐसे युद्धो की भूमिका ही निर्मित न होने देगे। इसके लिए वे बडे से बडा कष्ट झेलने को तत्पर होगे और जब यह होगा तभी समग्र विश्व मे अहिंसा की विजय वैजयन्ती फहराएगी। अहिंसा के भक्त ऐसे नाजुक प्रसग पर सोते रहे तो अहिंसा की शक्ति कैसे चमकेगी ?

हिन्दुस्तान मे हुई शाति परिषद् मे हेनरी चक्रमचुटजो नामक एक जर्मन प्रतिनिधि भी आया था। वह युद्ध का प्रबल विरोधी था और इसी कारण उसे अनेक मुसीबतें झेलनी पडी। सन् 1922 मे उसे इसी अपराध मे 30 वर्ष की सजा हुई, मगर किसी कारण वह बीच मे ही सन् 1945 मे छोड दिया गया। इस प्रकार अहिंसा सिद्धान्त के लिए वह सभी कष्ट झेलता रहा।

ईसाइयो मे क्वेकर नामक सम्प्रदाय के अनुयायी बडे शातिवादी होते है। वे अहिंसा मे गहरी आस्था रखते है और शाकाहारी होते है। सन् 1940 मे जब जापान और रूस के बीच सग्राम छिडा तो उन्हे सेना मे भर्ती होने को विवश किया गया किन्तु नरसहारक युद्ध उनके सिद्धान्त के विरुद्ध था। उन्होने साफ इन्कार कर दिया। कई लोगो को मृत्यु-दड भोगना पडा। कहते है, उनमे से कुछ लोग टाल्स्टाय की सहायता से अमेरिका मे जा बसे और वहाँ खेती करके निर्वाह करने लगे, लेकिन अपने सिद्धान्त से विचलित न हुए। अगर अहिंसा पालन के लिए सभी राष्ट्रो मे इस प्रकार तपस्या करने की क्षमता आ जाए तो युद्धो का निवारण करना क्या कठिन बात है ?

अणु-अस्त्र प्रयोग और परीक्षण के विरुद्ध भी सक्रिय अहिंसात्मक प्रति-कार किया जा सकता है। मगर इस प्रकार के प्रतिकार के लिए सगठित

अहिंसा की सार्वभौम शक्ति

कुछ लोगों की ऐसी धारणा बन गई है कि अहिंसा केवल धार्मिक क्षेत्र की ही वस्तु है, मगर यह बड़ी भ्रान्ति है। अहिंसा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। मानव जीवन के जितने भी क्षेत्र है, सभी अहिंसा की क्रीड़ा-भूमि हैं। धर्म, राजनीति, समाज, अर्थनीति, व्यापार, अध्यात्म, शिक्षा, स्वास्थ्य और विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों मे अहिंसा का अप्रतिहत प्रवेश है। उसके लिए न स्थान की कोई सीमा है और न वह काल की किसी परिधि मे ही आबद्ध है।

वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की सुख-शान्ति के लिए अहिंसा का पालन अनिवार्य है। सुख और शान्ति के क्षेत्र मे जीवन का एक भी कदम अहिंसा के बिना आगे नही बढ सकता। मनुष्य क्या पद-पद पर रुधिर बहाता हुआ, संहार और विनाश की पैशाचिक लीला करता हुआ चल सकता है ? दूसरो को कुचलते हुए, दूसरो के अधिकारो का हनन करते हुए चलना मानव का काम नही। वह दानव का, शैतान का ही कार्य हो सकता है।

जो लोग अहिंसा को कायरता का चिह्न कहकर अहिंसात्मक प्रतिकार को अव्यवहार्य मानते है, उन्होने जिन्दगी की पोथी अनुभव की आखो से नही पढी है। वे अहिंसा की असीम शक्ति से अनभिज्ञ है और अहिंसा के स्वरूप को भी शायद नही समझते है। क्या ईंट का जवाब पत्थर से देना या पद-पद पर संघर्ष करना ही शूर-वीरता का लक्षण है ? अहिंसक प्रतिकार द्वारा दूसरे के हृदय पर विजय पाना सबसे बडी शूर-वीरता है। हिंसा के मार्ग पर चलने वाले आखिर ऊब जाते है, थक जाते है और उससे हट जाने को तैयार हो जाते है। जिन्होने बडे जोश के साथ लडाई लडी और कत्ले आम किया, उन्हे भी अन्त मे सुलह करने को तैयार होना पडा।

छत्तीस

एक उपसंहारात्मक दृष्टि

मानव ही नही अपितु प्राणी-मात्र का अन्तिम ध्येय शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त करना रहा है। ज्ञान और विज्ञान इसे उपलब्ध करने के दो साधन है। ज्ञान आत्मा का विशिष्ट गुण होने के कारण, प्रकाश का काम देता है। विज्ञान ने जहाँ मानवीय जीवन-यापन करने की आवश्यक सुविधाएँ प्रदान की वहाँ बहुत से दुःख और दुविधाएँ भी निर्मित की है। सर्वोच्च वैज्ञानिक आविष्कार इस बात के प्रमाण है कि सुखापेक्षया दुःख सृष्टि अधिक हुई है तभी तो जीवन की शान्ति, सुख और समृद्धि सकट मे पडी है। इतने विकास के बाद भी मानव जाति वास्तविक उन्नति से अति दूर है। आध्यात्मिक नैकट्य उसके जीवन की कल्पना मात्र रह गया है। यद्यपि यह वैज्ञानिक आविष्कार भी सनातन नही है पर इसका कालिक प्रभाव ही प्राणी मात्र पर अपना चिरस्थायी असर छोड जाता है। प्राचीन वैज्ञानिको की जीवन-नीति एव दृष्टि आज की अपेक्षा भिन्न प्रकार की थी। उस समय विज्ञान ज्ञान सवर्धन का अग होने से विद्वज्जनो के लिए भी आनन्द की वस्तु थी। ये वैज्ञानिक राजनीतिज्ञो के खिलौने या दास नही थे। वे तो अपनी शोध द्वारा मानव जगत् को अनुप्राणित करने मे अपने आपको गौरवान्वित समझते थे जबकि आज का वैज्ञानिक अधिकाशत राजनीति या राजनीतिज्ञो से प्रभावित है। चाँदी के चन्द टुकडो पर नरसहारक प्रयोग किसी भी राष्ट्र को बेच देना आज के वैज्ञानिक के लिए असभव नही है। बल्कि स्पष्ट कहना चाहिए तो बडे-बडे कुशल राजनीतिज्ञ वैज्ञानिको की साधना के बल पर ही अपनी स्वार्थ सिद्धि करते देखे गये है। ज्ञान-विज्ञान पर यदि राजनीति अपने प्रभाव की मोहर लगाती है तो मानव सभी प्रकार से न केवल पराधीन ही हो जाता है अपितु ससार मे सभ्यता भी विलुप्त हो जाती है। वैज्ञानिको की आत्मा का हनन होता है। ज्ञान की प्रभा पर पर्दा

आधारभूत ग्रंथ व पत्र पत्रिकाएँ

1. स्थानांग सूत्र
2. दर्शन और चिंतन
3. नवीन निबंध सागर
4. अहिंसा दर्शन
5. अहिंसा तत्त्व दर्शन
6. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान
7. विज्ञान का इतिहास
8. जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व
9. आधुनिक निबंध एवं हिन्दी रचना
10. जैन दर्शन
11. अणु से पूर्ण की ओर
12. तत्त्वार्थ सूत्र
13. जिंदगी की मुस्कान
14. भारतीय संस्कृति
15. षड्दर्शन समुच्चय
16. निबंध रत्नावलि
17. सुत्त निपात धम्मिक सुत्त
18. षड्दर्शन समुच्चयवृत्ति
19. पातञ्जल योगसूत्र
20. गांधी वाणी
21. सम्पूर्णानन्द-अभिनन्दन ग्रन्थ
22. दशवैकालिक सूत्र
23. आचारांग चूर्णि
24. हरिभद्रकृत अष्टक
25. गीता
26. उत्तराध्ययन सूत्र
27. अहिंसा के अंचल में
28. वेद
29. बृहत् स्वयंभूस्तोत्र
30. सूत्र कृतांग सूत्र
31. सामान्य विज्ञान
32. समाज विज्ञान
33. सौर परिवार
34. रसायन शास्त्र
35. साधना का राजमार्ग
36. ज्ञानोदय (विज्ञान का अंक)
37. नवनीत
38. विज्ञान पत्रिका
39. चंद्रलोक
40. विश्वधर्म
41. धर्मयुग
42. दैनिक नवभारत टाइम्स